

# चिन्तन-सृजन

## त्रैमासिक

वर्ष 7 अंक 4

अप्रैल-जून 2010

सम्पादकीय परामर्शदात्री समिति

लोकेश चन्द्र

यशदेव शल्य

जे.एन.राय

रमेशचन्द्र शाह

सम्पादक

बी. बी. कुमार

सह-सम्पादक

शंकर शरण

आस्था भारती

दिल्ली

**वार्षिक मूल्य :**

व्यक्तियों के लिए	60.00 रुपये
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए	150.00 रुपये
विदेशों में	\$ 15

**एक प्रति का मूल्य**

व्यक्तियों के लिए	20.00 रुपये
संस्थाओं के लिए	40.00 रुपये
विदेशों में	\$ 4

**विज्ञापन दरें :**

बाहरी कवर	10,000.00 रुपये
अन्दर कवर	7,500.00 रुपये
अन्दर पूरा पृष्ठ	5,000.00 रुपये
अन्दर का आधा पृष्ठ	3000.00 रुपये

प्रकाशन के लिए भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद द्वारा आंशिक आर्थिक सहायता प्राप्त

आस्था भारती

**रजिस्टर्ड कार्यालय :**

27/201 ईस्ट एंड अपार्टमेंट  
मयूर विहार फेस-1 विस्तार  
दिल्ली-110 096

**कार्य-संचालन कार्यालय :**

12/604 ईस्ट एंड अपार्टमेंट  
मयूर विहार फेस-1 विस्तार  
दिल्ली-110 096

से आस्था भारती के लिए डॉ. बी.बी. कुमार, सचिव द्वारा प्रकाशित तथा विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिण्टर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32 द्वारा मुद्रित।

फोन : 011-22712454

ई.मेल : asthabharati@yahoo.com

वेब साइट : asthabharati.org

चिन्तन-सृजन में प्रकाशित सामग्री में दृष्टि, विचार और अभिमत लेखकों के हैं। सम्पादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।

**विषय-क्रम**

<i>सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य</i>	5
1. भारतीयों की आवश्यकता : इतिहास अथवा अतीत? <i>प्रो. एस एन बालगंगाधर राव</i> <i>अनुवादक : तित्तीर्षु</i>	9
2. मीडिया का अपकर्ष <i>दीनानाथ मिश्र</i>	28
3. मीडिया : मिथस और मूल्य <i>देवेन्द्र इस्सर</i>	34
4. अखबार <i>शंकर पुणतांवेकर</i>	43
5. ऐन्द्रजालिकता को तोड़ती पुस्तक <i>कैलाश चन्द्र पन्त</i>	50
6. कलाओं की दुनिया में डॉ. लोहिया <i>प्रयाग शुक्ल</i>	56
7. गुरु गोविन्द सिंह का युद्ध-दर्शन <i>डॉ. महीप सिंह</i>	61
8. समय के साथ खड़ा : चीन <i>टी.सी.ए. रंगाचारी</i>	73
9. प्रेमचन्द की रूसी क्रान्ति पर लिखी अचर्चित कहानी-‘कैदी’ <i>डॉ. कमल किशोर गोंयनका</i>	82
10. बृहद्नेपाल की बृहद् गाथा <i>ए.सी. सिन्हा</i>	93

11. महाराणा जयसिंह के काल में मेवाड़ में धार्मिक ग्रन्थों के आधार पर चित्रांकन परम्परा सुशीला शक्तावत	102
12. मध्यकालीन काव्य में 'बाजार लीला' गोविंद कुमार 'गुंजन'	109
पाठकीय प्रतिक्रिया प्राप्ति-स्वीकार	117

## सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य

### जब कुएँ में भाँग पड़ी हो!

दिल्ली की एक पाक्षिक पत्रिका *प्रथम प्रवक्ता* में एक संवाद छपा है जिसमें माओवादी समस्या पर एक वरिष्ठ पत्रकार फरमाते हैं: “माओवादी 1967 से जनता के बुनियादी जीवन में बदलाव लाने के लिए प्रयत्नशील हैं। उनका उद्देश्य सामाजिक आर्थिक परिवर्तन करना है।” पढ़कर लगता है मानो सचमुच नक्सलियों का उद्देश्य जन जीवन में बदलाव लाना है। उसी पत्रिका में एक सज्जन लिखते हैं: “बिना किसी जनाधार के अगर उन्होंने शहरों में खून खराबा किया तो उनकी हैसियत और छवि भी एक तरह के माओवादी अल-कायदा की हो जायगी। उनकी मुख्य चिन्ता नक्सलियों की हैसियत और छवि बिगड़ने की है। “माओवादी अलकायदा” चालाकीपूर्ण प्रयोग है। दैनिक हिन्दुस्तान (8 अप्रैल 2010) के एक लेख में जमीन संबंधी आकड़ों की कवायद करते हुए लेखक घोषित करता है: “विचारधारा का आन्दोलन बदला रक्तपात में। दवा के साथ ही बदलता गया मर्ज।” वह ऐसे लिखता है, मानो रक्तपात नक्सलियों की विचारधारा का अंग न हो। कुलदीप नैयर फरमाते हैं: “बन्दूक के बूते नहीं बदलेगी तस्वीर।” एक अन्य महाशय नक्सलवाद की खोज करते करते सांस्कृतिक-सामाजिक समस्याओं की चर्चा में उलझ जाते हैं (दैनिक जागरण 16 अप्रैल 2010)। एक अन्य नक्सलियों को उपदेश देना नहीं भूलते कि “बन्दूकों से नहीं, विचारों से आते हैं बदलाव” (हिन्दुस्तान, 18.4.2010)। गोविन्दाचार्य के लिए नक्सली आतंकवादी नहीं हैं और न मानव अधिकार संगठन चला रहे कम्युनिस्टों के लिए। नक्सली समस्या के निदान के लिए नीतीश कुमार को रास्ता दिखाने पहुँचे पूर्व नौकरशाह डी. बन्द्योपाध्याय को ढेर सारी जमीन दिख पड़ी, जिसको बाँटकर समस्या सुलझायी जा सकती है।

जबसे भारत के गृहमंत्री ने नक्सलियों से कड़ाई से निबटने की बात शुरू की है, उनपर प्रहार तेज हो गये हैं। नक्सलवाद के “मूल कारणों” पर चर्चा का जोर है। मध्य प्रदेश के पूर्व मुख्यमंत्री एवं कांग्रेस के महासचिव दिग्विजय सिंह का प्रहार बड़ा तीखा है। उन्हें नक्सलवाद की लड़ाई सामाजिक आर्थिक कारणों की खोजकर उनके हल करने में दीख रही है। प्रश्न है कि छत्तीसगढ़ में, जो मध्य प्रदेश का एक हिस्सा था, अपने दस वर्षों के दौरान उन्होंने समस्या को बढ़ने क्यों दिया? उन्होंने उसके निदान के लिए कौन से कदम उठाए? और यदि नहीं तो क्यों? फिर निरीह जनता के खून बहाए जाते चुपचाप देखते रहना क्या सरकार का काम है? ध्यातव्य है कि “मूल कारणों के ‘मिथक’ कोई पहले पहल नहीं उछाले जा रहे हैं। आज से लगभग पाँच वर्ष

पूर्व भारत के तत्कालीन गृह मंत्री शिवराज पाटिल भी वही भाषा बोल रहे थे। आज “मूल कारणों का मिथक” केवल कम्युनिस्ट बुद्धिजीवी ही नहीं, दूसरे भी उछाल रहे हैं। चलो कम्युनिस्ट तो दुराग्रही हैं; जो कम्युनिस्ट नहीं हैं, उनमें से कुछ अनजान या मूर्ख हैं। लेकिन सबसे खतरनाक तबका उनका है जो अपने राजनीतिक स्वार्थों के लिए, व्होट की राजनीति में नक्सलियों के प्रभाव से लाभ लेने के लिए, उनके प्रति नरमरुख की वकालत करते रहते हैं। ममता बनर्जी के दल का एक सांसद नक्सलियों की प्रशंसा का गीत गाता है और जब रेल उलटती है, 140 के करीब लोग मरते हैं, तो उन्हें राजनीतिक षडयंत्र दिखायी देता है। उनके लिए पश्चिम बंगाल में नक्सली हैं ही नहीं। सोरेन नरम रुख के हिमायती हैं। पश्चिम बंगाल एवं उड़ीसा के मुख्यमंत्री चालाकी से काम लेना चाहते हैं कि केवल केन्द्र ही उनकी समस्याओं को निबटाए।

नक्सली आज देश के लिए बड़ी समस्या बने हुए हैं। उसके कई कारण हैं:

- (क) जैसा कि ऊपर कहा गया है विभिन्न राजनीतिक दल तथा नेता गैर-ईमानदार तथा संवेदनहीन हैं। वे नक्सलियों की सहायता लेते रहे हैं और उन्हें लाभ पहुँचाते रहे हैं।
- (ख) भारत में सक्रिय कुछ संगठन चाहते हैं कि जनजातियों की संस्कृति एवं परम्परा पर नक्सली आक्रमण करें, वे उन्हें कमजोर करें। एवज में वे नक्सलियों की सहायता कर रहे हैं।
- (ग) पाकिस्तानी खुफिया एजेन्सी आई एस आई तथा देश में सक्रिय विभिन्न भूमिगत/आतंकवादी/विघटनकारी संगठनों/उल्फा आदि से नक्सलियों की साँठगाँठ है।
- (घ) भारत के शिक्षा संस्थानों, विश्वविद्यालयों, समाचार माध्यमों, विद्वत संगठनों में कम्युनिस्ट प्रभाव/घुसपैठ का लाभ शुरू से ही नक्सलियों को मिलता रहा है।
- (ङ.) कई कारणों से इस देश में ऐसी बौद्धिक संस्कृति फैली है, जिसमें कोई भी कुछ भी लिख और छप सकता है। समाचार-पत्रों ने इस प्रवृत्ति को बढ़ाया है। इससे भ्रम फैलता रहा है; जनता की समस्याओं के प्रति नासमझी बढ़ती रही है। लगता है कि विचार के कुँए में भाँग पड़ी है। फिर तो विभ्रम होना ही है। स्पष्टतः इसका लाभ नक्सलियों को मिलता रहा है।
- (च) जब आजादी आयी तो वह भारतीय कम्युनिस्टों के लिए झूठी आजादी थी। पहले तो उन्हें विश्वास ही नहीं था कि आजादी आयेगी, फिर उन्होंने आजादी की लड़ाई का विरोध अंग्रेजों का साथ देकर किया। आजादी के तुरन्त बाद उन्हें लगा कि जनता सत्ता परिवर्तन के लिए तैयार है। “रणदिवे डाक्ट्रिन”, आजादी के ठीक बाद के तख्ता पलट के

हिंसक प्रयास, उसकी पृष्ठभूमि में रही कम्युनिस्ट आशावादिता, इन सब को नक्सलियों ने बीस साल बाद फिर दुहराया। उनकी इन सारी मूर्खताओं की जानकारी के लिए कम्युनिस्ट नेतामोहित सेन की जीवनी *ए ट्रेभलर एण्ड द रोड, द जर्नी आफ ऐन इण्डियन कम्युनिस्ट* ही पढ़ लेनी चाहिए। दूसरे कम्युनिस्ट राज थापर की पुस्तक *(वियोण्ड दिज इयर्स)* रणदिवे की मूर्खताओं को स्पष्टता से उजागर करती है। फिर मोहित सेन ने पश्चिम बंगाल सरकार द्वारा, जिसमें ज्योति बसु उपमुख्यमंत्री थे, शुरुआती नक्सली हिंसा के प्रति नरम रुख अपनाकर उनकी मदद पहुँचाने की बात स्वीकारी है। ठीक उसी समय, मार्क्सवादी कम्युनिस्ट मंत्री हरे कृष्णा कोनार भी चारु मजुमदार की ही भाषा में हिंसक तरीके से बदलाव की बात कर रहे थे।

जब नक्सलवाद आया तो उसके सबसे उत्साही समर्थकों में संत स्टीफेन कालेज, दिल्ली तथा प्रेसिडेन्सी कालेज, कलकत्ता के विद्यार्थी हुआ करते थे। उनमें धनी जमीन्दार एवं व्यवसायी तबके से आनेवाले विद्यार्थियों का प्रतिशत अधिक था। ऐसे भी विचार हैं कि वे गणतंत्र विरोधी थे जो सुविधा भोगी पढ़े-लिखे वर्ग तथा अनपढ़ निरक्षर वर्ग को समान मताधिकार दिए जाने, उन्हें एक ही खाने में रखे जाने के विरोधी थे। फिर उनके अवचेतन में बसा अपराध-बोध, विदेशी शिक्षा का विराष्ट्रकारक प्रभाव, बदलाव की मूर्खतापूर्ण आशावादिता आदि अन्य कारक तो थे ही। नक्सलियों के घोषित अघोषित सुविधाभोगी मध्यमवर्गीय हमदर्दों एवं प्रवक्ताओं के चारित्रिक विश्लेषण से उल्लिखित बातें स्वयं-सिद्ध हैं।

नक्सलवाद की समझ के लिए कम से कम कुछ मोटी बातों की जानकारी आवश्यक है। सबसे पहलीबात कि वे सामाजिक बदलाव की लड़ाई नहीं लड़ रहे हैं। उनकी लड़ाई, जैसा कि उनके सबसे प्रारंभिक दस्तावेज *प्रोग्राम्स आफ द कम्युनिस्ट पार्टी आफ इण्डिया (मार्क्सिस्ट लेनिनिस्ट)* में, विशेषतः उसकी धारा 36 एवं 37 में लिखा है, गुरिल्ला युद्ध द्वारा सत्ता परिवर्तन के लिए है। “मर्डर मैनुअल” किसी दूसरे ने नहीं, स्वयं चारु मजुमदार ने लिखा था। जिन मूल कारणों “तववज बनेम” की चर्चा आज नक्सलवाद के अघोषित हमदर्द एवं प्रवक्ता जोरशोर से कर रहे हैं, उसकी कोई चर्चा उनके मौलिक दस्तावेजों में नहीं है। माओवादियों के विषय में अभी अभी उनके प्रवक्ता आजाद का वक्तव्य आया है कि उनका उद्देश्य लगातार युद्ध द्वारा नयी गणतांत्रिक क्रांति लाना है। फिर एक तरफ तो, जैसा कि मोहित सेन ने लिखा है, नक्सली समाज के गरीबवर्ग के दूध बेचनेवाले, चौराहे पर आवागमन नियंत्रित करने वाले गरीब सिपाही, असमय रोगियों के पास जाने वाले असुरक्षित डाक्टर, गरीब खेतियार की हत्या कर रहे थे, दूसरी तरफ वे पूँजीपतियों के संरक्षण देने की बात कर रहे थे (कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी-लेनिनवादी) लिबरेशन का दस्तावेज 2:2:5).

शायद यही कारण था कि पूँजीपतियों द्वारा संचालित अखबारों में नक्सलियों/कम्युनिस्टों से सहानुभूति रखनेवालों की विशेष घुसपैठ हुई और उनके विचार भी लगातार छपे। ध्यातव्य है कि कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी-लेनिनवादी) लिबरेशन के महामंत्री विनोद मिश्र के मरने पर दैनिक हिन्दुस्तान में “कामरेड विनोद मिश्र लाल सलाम” शीर्षक सम्पादकीय छपा था।

चार मजुमदार के लिए माओ एक आध्यात्मिक अणुबम थे; माओ का रास्ता उनका रास्ता था। क्याथा माओ का रास्ता? वस्तुतः माओ का एक ही रास्ता था, जो उनके इस सपने की परिपूर्ति की तरफ ले जाता था कि चीन सैनिक महाशक्ति के रूप में उभरे ताकि माओ की बात विश्व भर में सुनी जा सके। जब चाउ एन लाइ सितम्बर 1952 में चीन की पहली पंचवर्षीय योजना का प्रस्ताव लेकर गये थे तो स्तालिन तकको कहना पड़ा था कि “यह अत्यन्त असंतुलित अनुपात है। युद्ध के समय भी हम इतना सैनिक खर्च नहीं करते थे। हमें शक है कि हम इतना (सैनिक) सामान बना पायेंगे।” उस बजट में कम से कम 61 प्रतिशत खर्च सेना एवं सैनिक उपकरणों के उद्योग पर और मात्र 8.2 प्रतिशत शिक्षा संस्कृति, स्वास्थ्य आदि पर कियाजाना था। सैनिक उद्योग, अणुबम तकनीक आदि के आयात के बदले चीनी लोगों को भूखे रखकर अन्न आदि निर्यात कर, तथा बाद में लम्बी छलांग के दौरान गलत कृषि नीति अपनाकर माओ ने सात करोड़ से अधिक चीनी लोगों को भूखों मार डाला। माओ को बहुत अच्छा भोजन, अनेक शालीन भवन, लगातार नयी छोकड़ियाँ चाहिए थीं; चार पत्नियों की बाबजूद, जिनके प्रति माओ का व्यवहार बेहद क्रूरतापूर्ण रहा। वैसी ही क्रूरता माओ ने अपने बच्चों एवं निकटतम सहकर्मियोंल्यू शाओ ची, लिन पिआओ, चाउ एन-लाइ, देङ्ग किसआओ-पिङ्ग के साथ भी दिखायी। माओ ने चीन के तत्कालीन प्रधानमंत्री चाउ एन-लाइ को तब तक कैन्सर का इलाज नहीं करने दिया था जब तक यह पता न चला कि वह माओ से पहले मर जाएगा। क्रूरता एवं आतंक दो अस्त्र थे जिसका प्रयोग माओ आजीवन करता रहा। माओ के विषय में माओवादी एवं स्वयं हमारा राष्ट्र कितना भ्रम पाले हुए है इसके लिए जुंग चांग एवं जान हालिडे की पुस्तक, *माओ : द अननोन स्टोरी*, पढ़ी जानी चाहिए।

आजकल माओ के मददगार इस प्रचार में लगे हैं कि छत्तीसगढ़ की लड़ाई आदिवासियों की है। उन्हेंलोगों को अबतक के नक्सल नेतृत्व के जातीय एवं आर्थिक स्थिति की जानकारी सार्वजनिक करनी चाहिए। फिर विकास के एजेण्डा वाले नक्सली स्कूलों, अस्पतालों, पंचायत घरों, रेल पथों को ध्वस्त क्यों करते हैं? अन्याय एवं उत्पीड़न के विरुद्ध लड़नेवालों की सर्वाधिक गोलियाँ उन्हीं को निशाना क्यों बनाती हैं जो स्वयं अन्याय एवं उत्पीड़न के शिकार हैं? फिर जाने माने अपराधियों की शरण-स्थली नक्सली क्यों बनते रहे हैं?

**बी.बी. कुमार**

## भारतीयों की आवश्यकता : इतिहास अथवा अतीत?

**प्रो. एस एन बालगंगाधर राव**  
**अनुवादक : तितीर्षु**

आज भारत तथा इसके बाहर हम एक नई बौद्धिक प्रवृत्ति देखते हैं, वह है गहन शोध पर आधृत भारत का सही इतिहास लिखने की प्रवृत्ति। इस प्रवृत्ति के बारे में *नया* क्या है? एक अर्थ में, जिसे मैं इस आलेख में स्पष्ट करूँगा, यह प्रयास नया नहीं है। एक दूसरे अर्थ में, हम इस पर भी चर्चा करेंगे, इसमें कुछ है जो नितान्त नया है। मैं शीर्षक में व्यक्त प्रश्न, जो ‘अतीत’ और ‘इतिहास’ में अन्तर करता है, का उत्तर देने के क्रम में दोनों बातों पर चर्चा करूँगा। यह अन्तर स्पष्टता की माँग करता है क्योंकि इतिहासविद्या ‘अतीत के परिशुद्ध विवरण’ के रूप में देखी जाती है। फिर भी मैं ‘अतीत’ और इतिहासविद्या से प्राप्त ‘इतिहास’ में विभेद करता हूँ।

यद्यपि यह कहानी उलझनपूर्ण है, फिर भी इसके कम-से-कम दो प्रारम्भ, दो मध्यबिन्दु और एक साझा अन्त है। इस कहानी की कई शाखाएँ हैं और यद्यपि यह पर्याप्त नहीं है लेकिन मैं एक विकल्प की भी बात करूँगा। एक अर्थ में एक भारतीय के लिए यह कोई समस्या नहीं होनी चाहिएमहाभारत की कथा एकाङ्गी नहीं है, इसमें कथाओं के भीतर कथाएँ हैं जिनमें अनेक वक्ता हैं, अनेक स्वर हैं और कई सञ्चारी घटनाएँ हैं। मैं व्यास नहीं हूँ जो अपने वाचन से आपको अभिभूत कर दूँ, यद्यपि मैं चाहता हूँ कि मैं हो जाऊँ। इस महाकाव्य के विपरीत यह लेख बहुत छोटा है और इसे

\* प्रो. एस.एन. बालगंगाधर राव बेल्जियम के गेण्ट विश्वविद्यालय में संस्कृति विषय के प्राचार्य हैं। मूल आलेख अंग्रेजी में है जिसका शीर्षक है *What do Indians need : History or a Past* प्रो. राव से उनके मेल Balu@UGent.be पर सम्पर्क किया जा सकता है।

\* मूल नामकुमार सौरभ। पताडी-26/3, डी आर डी ओ टाउनशिप, कंचनबारा, हैदराबाद500058। मो. 09912688167

दूसरी कड़ी की आवश्यकता है। आशा है कि उस कड़ी को निकट भविष्य में लिख सकूँगा। खैर, ये मेरी असफलताएँ हैं। मैं आशा करता हूँ आप इतने भारतीय तो अवश्य हैं कि मुझे कहने का एक अवसर देंगे और यह कि आप इतनी अस्तव्यस्तता में नहीं हैं जितने पश्चिमी जन हैं।

## एक आरम्भ

कुछ हजार साल पहले के यूनानी समाज में दो बौद्धिक दृष्टियाँ थीं। इनमें से एक दृष्टि, जिसका अपना सम्माननीय अतीत था, नगर-नगर घूमनेवाले तथा यूनानी किंवदन्तियों एवं पुराकथाओं को सुनानेवाले चारणों द्वारा प्रयुक्त होती थी। ये चारण जहाँ भी जाते थे, जनाकर्षण के केन्द्र होते थे। ये होमर तथा अन्य समादृत कवियों को दुहराकर श्रोताओं का केवल मनोरंजन ही नहीं करते थे वरन् कथानक के द्वारा समाज की वास्तविक समस्याओं को भी रेखांकित करते थे। ये बहुत पहले की कहानियाँ कहते थे, जैसे यूलिसीज और सायरन की, साइकाल्पस और ज्यूज की, जैसन और एगॉनॉट की। ऐसी कहानियों के पात्र मानवीय तथा दिव्य दोनों होते थे, उनमें से कुछ ने अजेय कठिनाइयों का सामना किया था और इसलिए उनके कार्य वीरतापूर्ण समझे जाते थे। कवियों ने उन्हें सचमुच अमर कर दिया था। चारण इन कथाओं को कहकर आनन्दित होते थे और जनसमुदाय इन्हें सुनना पसन्द करता था।

एक और समुदाय था। अपनी सुविधा के लिए हम इन्हें दार्शनिक कहेंगे (वे जो ज्ञान से प्यार करते थे)। हम इनमें से कई के नाम जानते हैं, इनमें से सर्वाधिक ख्यात था प्लेटो। यह दार्शनिक चारणों और उनके कार्यों से अप्रसन्न था। वह सोचता था कि वे चारण जनता को अतार्किक अनुभूतियों पर आधृत अतार्किक कार्यों के लिए उकसाते हैं। प्लेटो सोचता था कि ये चारण तर्कणा के बदले जनसामान्य की भावनाओं के संचारक हैं। उसके लिए भावनाएँ सदा अनुपयुक्त थीं, विशेषतया राजकार्यों के सन्दर्भ में। उसने बच्चों (भावी एथेंसवासियों) को पुराकथाओं के माध्यम से शिक्षित करने का विरोध किया, क्योंकि उसके अनुसार ये कथाएँ अतिशयोक्तियाँ हैं और अतीत का असत्य विवरण देती हैं। वस्तुतः प्लेटो ने एक ऐसे आदर्श राज्य का स्वप्न देखा था जहाँ सभी कथावाचकों और चारणों को वनवास दे दिया गया हो, जो दार्शनिक राजा द्वारा शासित हो और ऐसा राज्य रहने का एक आदर्श स्थान होता क्योंकि केवल यही अपने नागरिकों में तर्कणा का विकास कर सकता था। उसने 'अतीत' का 'इतिहास' से और 'भावनाओं' का 'तर्क' से विरोध किया। उसका विश्वास था कि 'पुराकथाओं' को नहीं वरन् 'इतिहास' को सभ्य एथेंसवासियों के कार्यों का प्रदर्शक होना चाहिए। उसके लिए चारण केवल 'वाक्पटु' थे और उनके 'वक्तृत्व' का उसने 'तर्क' से विरोध किया। यह वक्तृता (समुदाय की भावनाओं तथा

अतार्किक बुद्धि को लुभानेवाले) वाक्छल को प्रेरित करती थी और इस प्रकार युवकों को विषाक्त करती थी जबकि दर्शन तर्क का विकास करता था।

उस समय के एथेंस में ये दो वृत्तियाँ एक-दूसरे की प्रतिद्वन्दी प्रतीत होती थीं। और इससे पहले कि इनमें से कोई एक प्रवृत्ति अधिक प्रमुखता पाती, यूनानी सभ्यता विनष्ट हो गई। और बाद में एथेंस के इस प्रकाश का संवहन आंशिक तौर पर रोमन सभ्यता द्वारा हो सका।

## एक दूसरा प्रारम्भ

अब हम कहानी को कुछ शताब्दी आगे बढ़ाते हैं। उस समय अभी मध्यपूर्व कहे जानेवाले भूखण्ड का बहुतांश रोमन साम्राज्य का अंश था। रोमनों ने यहूदी कहे जानेवाले लोगों के देश को भी जीत दिया था। दुनिया के सभी देशों की भाँति यहूदियों के पास भी अपने अतीत के बारे में एक कहानी थी। उनकी यह कहानी उन बारह समुदायों की यात्राओं के बारे में थी जो दण्डस्वरूप अन्य देशों में बिखर गए थे। दण्डविधायक एक ऐसी सत्ता था जिसे अब हम 'ईश्वर' कहते हैं और उसने उन्हें दण्डित किया क्योंकि वे उसे, 'इजरायल के ईश्वर' को भूल गए थे। वह अब्राहम, इसाक और जैकब का ईश्वर है। वह ब्रह्माण्ड का जनक है और सर्वसत्तात्मक है, और यहूदियों को उसने अपने द्वारा प्रदत्त नियमों की रक्षा करने का निर्देश दिया था। उसने उन्हें अपने ('वास्तविक' ईश्वर) तथा दूसरे समुदायों के 'ईश्वरों' के बीच के अन्तर के बारे में भी बताया था और सिनाई पर्वत में वह अवतरित हुआ। दयालु ईश्वर होने के नाते उसने इजरायल के लोगों को वचन दिया था कि वह धरती पर एक दूत भेजेगा जो यहूदियों को पुनः संगठित करेगा।

यहूदियों के अतीत के बारे में कहानी का यह ढाँचा इस समय हमारे लिए पर्याप्त है क्योंकि जो बात महत्वपूर्ण है वह यह कहानी नहीं है, वरन् इसके प्रति यहूदियों की 'दृष्टि' है। पूर्व के यूनानियों के विपरीत पुराने और आज के यहूदी यह विश्वास करते हैं कि उनकी कहानी 'सच्ची' कहानी है। वस्तुतः वे इसे कहानी मानते ही नहीं हैं, उनके लिए यह धरती पर घटित घटनाओं का तथ्यपरक विवरण है। दूसरे शब्दों में यहूदी मानते हैं कि उनके अतीत का यह विवरण उनका इतिहास है। ईश्वर ने अब्राहम, इसाक और जैकब के ईश्वर ने सचमुच यहूदियों को दण्डित किया था, ईश्वर ने सचमुच अपना दूत भेजने का वचन दिया था और यह दूत अवश्य आएगा क्योंकि ईश्वर हमेशा वचन पालन करते हैं।

कालान्तर में कुछ यहूदी ईश्वर के ऐसे दूतों के आगमन के दावे करने लगे। कुछ ने कहा कि ईश्वर के आदेश से इजरायल के लोगों को बचाने के लिए मसीहा का आगमन हो चुका है। इनमें से सर्वाधिक ख्यात समुदाय नाजेरथ के ईसा के कार्यों और



व्यक्तित्व के चारों ओर केन्द्रित हुआ। यह विश्वास करते हुए कि ईसा ही (घोषित, चुना गया) मसीहा था, इस समुदाय ने अन्य यहूदियों को उसके आगमन के बारे में आश्वस्त करना प्रारम्भ किया। अधिकतर यहूदियों ने इस बात का विश्वास नहीं किया। यहूदियों द्वारा पूरी तरह नकार दिए जाने के बाद इस समुदाय ने प्रचार करना प्रारम्भ किया कि ईसा का आगमन केवल यहूदियों को बचाने के लिए ही नहीं, *वरन् समूची मानवता को बचाने के लिए* हुआ था। अपने इतिहास के बारे में यहूदियों का विवरण पहले ही 'मूल पाप', 'ईश्वर द्वारा त्याग', 'स्वर्ग' तथा 'नरक' की बातें करता था। ईसाइयों ने (अर्थात् नाजेरथ के ईसा को मसीहा माननेवालों ने) इन बातों को अधिकांश ग्रहण किया लेकिन यहूदियों को मिथ्या विश्वास से युक्त तथा अपनी पुस्तक को समझ पाने में पूर्णतया असफल होने का दोषी बताया। वे विश्वास करते थे कि यहूदी मत मृत हो चुका है और शीघ्र ही ईसाइयत, ईसाइयों द्वारा प्रचारित मत अर्थात् उनके द्वारा प्रचारित जो ईश्वर के दूत के आगमन, मनुष्यता के लिए सलीब पर उसकी मृत्यु और तीन दिनों बाद उसके पुनरुज्जीवन का दावा करते थे, से विस्थापित हो जाएगा। यही वह 'शुभ सन्देश' था जिसका दावा ईसाई इस विश्व से करते हैं।

यह भी ईसाइयत का एक ढाँचा है, लेकिन मैं आपका ध्यान केवल इस बात की ओर आकृष्ट नहीं करना चाहता हूँ कि ईसाई किस प्रकार इन विवरणों को देखते थे, लेकिन इस बात पर भी कि उन्हें किस प्रकार ऐसा देखने के लिए *बाध्य* किया गया था और आज भी किया जाता है।

यहूदियों के ही समान आरम्भ में ईसाई भी यह मानते थे कि अपने अतीत के बारे में उनकी कहानी केवल उनका इतिहास नहीं है, वरन् मानवता का इतिहास है। उनकी मान्यता थी कि आदम और ईव से लेकर ईडन का उद्यान और नूह की बाढ़ तक की पुरानी किताब (ओल्ड टेस्टामेण्ट) में विवृत्त प्रत्येक घटना धरती पर घटी घटना का विवरण थी। अच्छाई तथा बुराई के ज्ञान की खोज में पड़कर आदम ने सचमुच मूल पाप किया था (जैसा कि बाइबिल की पुरानी किताब में कहा गया है) और आदम के वंशज (समूची मानवजाति) यह भार वहन कर रहे हैं। ईसाइयों ने यह दावा किया कि नाजेरथ का ईसा मसीहा था, उसे रोमनों के द्वारा सलीब पर टाँगा गया था, वह तीन दिनों बाद जी उठा था और अपना अनुसरण करने पर मानवजाति को उसने मुक्ति का विश्वास दिलाया था। ईसा के अनुयाइयों ने कहा कि जो ऐसा नहीं करते हैं, वे बाइबिल द्वारा वर्णित और शैतान द्वारा शासित नरक में सदा के लिए जाएँगे।

मसीहाई के लिए ईसा की योग्यता के प्रति शंकित और उसे नकारनेवाले यहूदियों के अतिरिक्त ईसाइयों ने रोमन साम्राज्य की बौद्धिकता का भी सामना किया था। अन्य बातों के अतिरिक्त इन बौद्धिकों ने पाया कि ईसाई 'ईश्वर', 'शैतान' और 'नाजेरथ' के ईसा के बारे में हास्यास्पद दावे कर रहे हैं। यद्यपि वे यहूदी आचारों तथा

परम्पराओं को सहते थे लेकिन उन्होंने कभी यहूदियों की कहानियों को मानवता की कहानी के रूप में स्वीकार नहीं किया। ईसाइयों के रूप में उन्हें न केवल एक ऐसा सम्प्रदाय भी मिला जो 'ईश्वर' जैसी सत्ता का दावा करता था जो केवल अपनी इच्छा से जो चाहे निर्माण कर सकता था बल्कि ऐसा समुदाय भी मिला जो मृत्यु के बाद पुनरुज्जीवन के बारे में हास्यास्पद दावे भी करता था। वे सोचते थे कि ईसा अवश्य कोई जादूगर था जिसने मरने का केवल बहाना किया था जबकि जनता को उसने विश्वास दिला दिया था कि वह 'सचमुच मर चुका था।' आखिर किसने मृत्यु के बाद जीवन के बारे में सुना था? अन्य बातों के अतिरिक्त उन्होंने सोचा था कि ईसाई निरे बेवकूफ हैं जो किसी भी विमर्श से दूर भागते हैं और बच्चों, दासों और औरतों को 'मतान्तरित' करने का प्रयास करते हैं। (रोमनों के अनुसार, इन तीनों में से कोई भी एक परिपक्व नागरिक के समान 'तर्कसम्मत व्यवहार' नहीं कर सकता है।)

ओखली और मूसल के बीच में फँसने के बाद ईसाइयों को अधिकाधिक इस बात पर बल देना ही था कि वे सत्य कह रहे हैं। *उनकी बात कोई कहानी या मिथक न होकर इतिहास है।* यह केवल यहूदियों का इतिहास नहीं था, बल्कि पूरी मानवता का इतिहास था। यह ईसाई ईश्वर केवल 'इजरायल का ईश्वर' नहीं था, केवल अब्राहम, इसाक और जैकब तथा उनके अनुयाइयों का ईश्वर नहीं था, वरन् पूरी मानवजाति का ईश्वर था। वह सार्वभौम 'ईश्वर' हो गया, एकमेव, अपरिभाषित तथा अद्वितीय। वह 'परमेश्वर' है। उसने ब्रह्माण्ड बनाया, वह सर्वभू है तथा सृष्टि का स्वामी है, वह सम्प्रभू है और सभी नैतिकताओं का स्रोत है। उसकी इच्छा ही नियम है और उसकी सन्तति होने के नाते हमें उसका आज्ञापालन करना है।

तब भिन्न देश 'ईश्वरों' की आराधना क्यों करते हैं। इसे बहुत सरलता से स्पष्ट किया गयावे सारे 'ईश्वर' 'मिथ्या' हैं और शैतान के अनुयायी तथा सेनानी बनकर मानवजाति को विनाश की ओर धकेलते हैं। वे आवारा 'प्रेत' थे, जिसका यूनानी शब्द *डाइमोनेस* है जिससे अंग्रेजी शब्द 'डेमन' निकला है। निश्चय ही न तो यूनानी और न ही रोमन अपने ईश्वरों को आवारा प्रेत या बाइबिल के शैतान के अनुयायी मानते थे। लेकिन ईसाइयों ने यूनानी-रोमन विचारों को अपनी दिशा दी और सम्राट कांस्टेण्टाइन के मतान्तर के साथ वे राजनीतिक सत्ता भी प्राप्त कर चुके थे।

दूसरे शब्दों में, बाइबिल की कहानी सम्पूर्ण मानवजाति की 'सच्ची' कहानी है। नाजेरथ के ईसा एक सचमुच के, ऐतिहासिक मनुष्य थे जिन्हें रोमनों ने सलीब पर टाँग दिया था। ईसाई यह भी मानते थे कि दूसरे समुदाय और देश अपने अतीत के बारे में जो कहते हैं वे मात्र मिथक और भ्रमात्मक कहानियाँ हैं, इतिहास नहीं। बाइबिल इतिहास था। यह मानवता का इतिहास था।

## प्रथम मध्यविन्दु

दो मध्यविन्दु हैं जिनकी मैं बात करना चाहता हूँ। पहला, वह निश्चयात्मक दृष्टिकोण है जो हम किसी समुदाय के अतीत के बारे में अपना लेते हैं। दूसरा, दृष्टि के अनेकता के बारे में, जिससे मानव समुदाय ने अपने अतीत को देखा है। पहले हम प्रथम दृष्टि पर बात करते हैं।

हम इस बात पर ध्यान दें कि क्या होता है जब हम इस संसार में घटती घटनाओं को ईश्वरेच्छा की अभिव्यक्ति के रूप में लेते हैं। हम यह भी मान लें कि ईश्वर का ऐसे कार्यों तथा घटनाओं से कुछ आशय है जो मनुष्यता के भविष्य से सम्बद्ध पहलुओं को प्रभावित करता है। चूँकि मनुष्य होने के नाते वर्तमान के बारे में हमारा दृष्टिकोण अतीत के तथ्यों का संग्रह करने की क्षमता की अपेक्षा सीमित है, अतः हम अतीत के बारे में अपेक्षतया विस्तृत विवरण लिख सकते हैं। इसके अतिरिक्त ये बातें अतीत की घटनाओं में निहित ईश्वरीय योजनाओं को समझने के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। यह ज्ञान भविष्य की घटनाओं के अनुमान के लिए अतिशय महत्त्वपूर्ण है। ईसाइयों ने इस बात को बहुत जल्दी समझ लिया कि यह विश्व तुरन्त समाप्त नहीं होने जा रहा है। फलतः उनकी समस्या हो गई ईश्वर (और ईसा) का मानव 'इतिहास' से क्या उद्देश्य था। अतीत की घटनाओं में, जिसमें ईसा थे, उनके पास कुछ ऐसी बातें थीं जिनकी व्याख्या आवश्यक थी। जहाँ तक (मानवीय इतिहास सहित) संसार में ईश्वरेच्छा के उद्घाटन की बात है, यह मनुष्य का कार्य है कि वह मानवीय इतिहास ईश्वरीय उद्देश्य के ज्ञान के लिए समझे। मानवीय अतीत के विवरण से भी ईश्वरेच्छा का पता चलता है। अतः ईश्वरेच्छा को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम उन घटनाओं को जानें जो अतीत में *सचमुच घटी* थीं। जब हम अतीत की घटनाओं का सत्यशः अध्ययन करेंगे तभी जानने में सक्षम होंगे कि ईश्वर का मानवता से क्या उद्देश्य है। कल्पनापूर्ण अतीत तथ्यपूर्ण अतीत का विकल्प नहीं है। सिर्फ यही नहीं कि ऐसा अतीत विकल्प नहीं है, बल्कि स्थिति इससे बुरी है क्योंकि अनुचित विवरण को सत्य मानकर पढ़ने के कारण हम मानवात्मा की मुक्ति की सम्भावना को भी नकार देते हैं।

और बाइबिल ने मानवीय अतीत को पहले ही विवृत कर दिया था। तब ईसा के आगमन के बाद जो बात नई थी, वह थी ईसाई गिरजाघर का अभ्युदय। परिणामतः इस संस्था के इतिहास के उसी तरह के अंकन की आवश्यकता थी जिसमें यह धरती पर ईश्वरीय योजना को वैसा ही दर्शाता हो जैसा समुदायों के संघर्ष के चरम के रूप में नाजेरथ के ईसा के आगमन को दर्शाया गया था। गिरजाघर के प्रख्यात इतिहासविद् यूसेबियस ने दोनों कार्य किए, एक अपने गिरजाघर के इतिहासलेखन द्वारा और दूसरा यह दिखाकर कि किस प्रकार बहुविश्वासी समुदायों के 'ज्ञानियों' और 'उदार लोगों' ने, हालाँकि अस्पष्ट रूप से ही, मसीहा के आगमन की भविष्यवाणी की थी।

अब यह ऑगुस्टीन पर था कि वह एक निश्चित दायरा बनाए जिसके भीतर मानवीय अतीत का अध्ययन किया जाए। इतिहास का यह दर्शन ईसाई मठों के इस प्रसार को ईश्वरीय योजना की ऐतिहासिक अभिव्यक्ति के रूप में बताता था। ऑगुस्टीन और उसके अनुयायियों के लिए यह विश्वासी समुदाय (जो कि ईसाई मठों का था) पहले उपस्थित ईसाइयों के किसी भी समुदाय से बड़ा था। इसमें विश्वासियों, अतीत, वर्तमान और भविष्य का समाहार था। यह इतिहास का एक ऐसा दर्शन था जिसने सदा के लिए इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए एक भूमिका तैयार कर दी थी कि *हमें अतीत का अध्ययन किस प्रकार करना चाहिए*। इस तथ्य से भी अधिक महत्त्वपूर्ण यह बात है कि यह 'ठीक है, लेकिन' जैसी तुच्छ अभिवृत्ति अपनाता है। अन्तिम वाक्य को अधिक स्पष्ट करने की आवश्यकता है।

हम इस प्रश्न को लेंहम अतीत के बारे में बात करें ही क्यों। अथवा, मानवसमुदाय अपने अतीत के बारे में बात करने की आवश्यकता क्यों अनुभव करता है? ऐसे और अन्य समरूप प्रश्न इसलिए उठाए जाते हैं ताकि मानवीय वर्तमान समकालिकों के सामने प्रस्तुत हो सके। हमें वर्तमान और अतीत के प्रस्तुतिकरण की क्या आवश्यकता है? इस प्रश्न का एक उत्तर इस प्रत्यय पर ध्यान की अपेक्षा रखता है कि एक मनुष्य के रूप में जीवन का क्या अर्थ है, हम जीवन में क्या चाहते हैं और क्यों। चूँकि हम मनुष्य के अभ्युदय ("एक अच्छा जीवन जीना"; 'अच्छा' का जो भी अर्थ हो यहाँ) में रुचि रखते हैं, अतः हमारे लिए यह मानना आवश्यक हो जाता है कि हमारा एक अतीत था। दूसरे शब्दों में हम अतीत पर दृष्टिपात करते हैं ताकि हम सुन्दर जीवन जी सकें और वर्तमान में प्रगति कर सकें। वे सभी समुदाय जो संस्कृति के रूप में विकसित हो सके हैं, मानवीय अभ्युदय के बारे में, अर्थात् इस बारे में कि अच्छा जीवन क्या है, एक धारणा अवश्य रखते हैं। यह धारणा उतनी ही सामान्य और उतनी ही अमूर्त है जितना यह प्रश्न ('मानवीय अभ्युदय का अर्थ है प्रसन्न रहना')। इस अर्थ में प्रत्येक मानवसमुदाय के पास अपने अतीत के बारे में एक कहानी है।

लेकिन ऑगुस्टीन ने इस प्रश्न को विशिष्ट ईसाईगत सोच के अन्दर ही रखा। कहने का आशय है कि उसने एक आस्थागत प्रश्न को इस प्रकार रखा कि अतीत के बारे में किए गए प्रश्न अतीत की कथाओं की 'सत्यता' से घनिष्ठता से जुड़ गए। जैसा कि मैंने पहले भी कहा है, यहूदियों और ईसाइयों के लिए यह आवश्यक था कि अतीत के बारे में उनके दावे 'सही' हों। यदि ये दावे असत्य होते और मानवसमुदाय इस असत्य अतीत के आधार पर कार्य करता तो उसका भविष्य एक शाश्वत नरक की प्राप्ति होता। इस प्रकार ऑगुस्टीन के लिए यह स्पष्ट था कि अतीत के बारे में एक ही दृष्टि सम्भव थी। यह दृष्टि 'सही' अतीत की माँग करती थी, यह दृष्टि इस बात का उत्तर देती थी कि कैसे हमें अतीत का अध्ययन करना चाहिए। हमें अतीत का अध्ययन उसी प्रकार करना चाहिए जिससे हम 'सही' अतीत पा सकें। ऑगुस्टीन



ने कहा कि इस 'सही' अतीत का अन्वेषण (पहले के पादरियों के लेखनों के) सावधान अध्ययन द्वारा किया जा सकता है, क्योंकि मनुष्य अपने अतीत के बारे में शैतान द्वारा कथित असत्य बातों पर विश्वास करके छला गया है। संक्षेपतः मानवसमुदायों के बारे में व्याप्त असत्य बातों (ये 'असत्य बातें' निश्चय ही वे कहानियाँ हैं जो मानवसमुदायों के पास अपने बह्नायामी अतीत के बारे में हैं) के कारण ही हमें 'सत्य' की आवश्यकता है। जहाँ तक ऑगुस्टीन की बात थी, बाइबिल इस 'सत्य' का एकमात्र स्रोत था।

क्योंकि सभी मनुष्य 'सत्य' खोजना चाहते हैं, इसलिए आज यह कहना सामान्य हो चुका है कि हम अतीत का अध्ययन करते समय सत्य खोजते हैं। दो महत्वपूर्ण बातें यहाँ समझनी आवश्यक हैं। सबसे पहले तो यह कि अतीत का अध्ययन क्यों करना चाहिए। दूसरा कि इस सन्दर्भ में 'सत्य' का क्या अर्थ है।

पहली बात लें। अपने अतीत के बारे में अपने समुदाय के द्वारा कही गई कहानियों को दुहराने की अपेक्षा अतीत का 'अध्ययन' क्यों करें? मेरा आशय है कि हम रामायण, महाभारत, पुराणादि को अपने अतीत की कहानियाँ मानकर उनके वर्णन से सन्तुष्ट क्यों नहीं हैं? हमें क्या पढ़ने की आवश्यकता है और क्यों? इन प्रश्नों का एक सराहनीय प्रतीत होता उत्तर है कि 'हमें यह जानने की आवश्यकता है कि क्या ये कहानियाँ सत्य हैं'। हम फिर पूछें कि क्यों, क्यों हमें यह जानने की आवश्यकता है कि क्या ये कहानियाँ सत्य हैं। अन्ततः जैसा कि हम विश्वास करते हैं, ये कहानियाँ सहस्राब्दियों से हमारे बीच रही हैं और वे हमारे पूर्वजों की (और हमारे समकालिकों में से अधिकांश की भी) मानवीय उद्भव के क्रम में उपस्थित आवश्यकताओं की सम्पूर्णतः पूर्ति भी करती रही हैं। अतः अतीत के अध्ययन के पीछे अन्य कारण क्या रहे हैं?

मैं पहला सम्भावित उत्तर बताता हूँ जो कि प्रश्न का रूप ले लेता हैक्या हो यदि हमारे अतीत के बारे में हमारी कहानियाँ असत्य हों। मैं इसका उत्तर एक प्रतिप्रश्न से देता हूँतो क्या हुआ। यदि अपने अतीत के बारे में हमारी मान्यता से मानवीय उद्भव में सहायता मिलती है इससे क्या अन्तर पड़ता है कि वह सत्य है या असत्य? हम सत्य को असत्य की अपेक्षा चुन सकते हैं यदि (क) अतीत के बारे में कहा सत्य हमें अच्छा मनुष्य बनने में सहायता करता है और (ख) असत्य हमें हानि पहुँचाता है। इन प्रश्नों का उत्तर दिए बिना हम ऐसा कोई कारण नहीं बता सकते हैं जिसके कारण अतीत का अध्ययन किया जाए।

एक दूसरा सम्भावित उत्तर है जो इस विषय को टालने करने का प्रयास करता है, वह यह कि हमें अतीत के बारे में सत्य जानने की आवश्यकता है क्योंकि इसी के द्वारा हम अतीत के बारे में जान पाते हैं। इस जानकारी के लिए किसी स्पष्टीकरण की आवश्यकता नहीं, क्योंकि निश्चित ही ज्ञान स्वयमेव स्पष्टीकरण है। लेकिन यह

उत्तर भी काम नहीं करता है। क्यों?

यह हमें दूसरे विषय के समक्ष ला खड़ा करता है। आप देखते हैं कि आज 'सत्य' का एकमात्र स्पष्ट अर्थ है कि हम इसे वाक्यों के गुण में बदल देते हैं, अर्थात्, एक वाचिक गुण में। (अर्थात् हम केवल वाक्यों के बारे में बोल सकते हैं कि वे सही हैं या गलत।) यद्यपि हम सत्य का उपयोग दूसरे अर्थों में भी करते हैं, (जब हम यह कहते हैं कि वह 'एक सच्चा मित्र है', या जब हम कहते हैं 'केवल सत्य का अस्तित्व है' आदि), हम (आज) सत्य के इन दूसरे अर्थों की व्याख्या करने में अक्षम हैं। इस प्रकार हमारे पास सचाईयों का संग्रहालय हैं, विश्व की बहुसंख्या दूरभाष निर्देशिकाओं जैसा। ऐसी पुस्तकें संसार के बारे में 'सत्य' की प्रतिनिधि हैं। परिणामतः जो 'सत्य' इतिहासविद् खोजते हैं वह केवल अतीत की दूरभाष निर्देशिका जैसा ही हो सकता है। अतीत के बारे में तथ्य संग्रह करने में कोई आपत्ति नहीं है, लेकिन इन तथ्यों का 'ज्ञान' से इसके अभिधार्थ के अतिरिक्त क्या सम्बन्ध है?

कोई व्यक्ति 'ऐतिहासिक व्याख्याओं' का संकेत देते हुए असहमत हो सकता है। क्या ये ज्ञान के अंग हैं? नहीं, वे नहीं हैं। एक तो यह कि ये सभी व्याख्याएँ कामचलाऊ हैं, पहले से संगृहीत तथ्यों से उन्हीं तथ्यों के बारे में खींचे गए विवरणों से कुछ ज्ञान नहीं मिलता है, चाहे वे विवरण कितने भी बड़े क्यों न हों। दूसरे, ये व्याख्याएँ कुछ नहीं बतातीं, वे केवल तथ्य तथा कुछ अस्पष्ट अवधारणाओं के बारे में किसी प्रकार का सम्बन्ध सुझाती हैं। तीसरे, ऐसी अवधारणा किसी अन्य मानसिक या सामाजिक, 'अवधारणा' का दूसरा संस्करण है। चौथे, संगृहीत तथ्य किसी प्रकार भी अस्पष्ट अवधारणाओं का 'सत्यापन' नहीं कर सकते हैं। परिणामतः अतीत के बारे में कामचलाऊ कथन होने के अतिरिक्त ये 'व्याख्याएँ' ऐतिहासिक व्याख्याओं की प्रकृति को भी स्पष्ट नहीं करती हैं।

वस्तुतः उसमें जो इतिहासकार सोचते हैं कि वे कर रहे हैं ('अतीत के बारे में व्याख्याएँ खोजना') तथा जो वे सच में कर रहे हैं (तथ्यसंग्रह), उसमें एक बड़ा विभेद है। जब वे अतीत के बारे में 'सत्य' खोजते हैं तब न तो वे न ही उनके पाठक जानते हैं कि उन्होंने सचमुच सत्य पाया है या नहीं और यह भी कि इसे क्यों 'पाया जाए'। ऐतिहासिक तथ्यों का संग्रह किसी प्रकार भी मानवता की 'समेकित स्मृति' नहीं है। यह वही है जो यह हमेशा था, तथ्यों का संग्रह जो पुस्तकालय में रखा धूल फाँकता रहता है।

वह 'सत्य' जो ऑगुस्टीन खोजता था, उसे 'इतिहास' के किसी भी शोध से सिद्ध या असिद्ध नहीं किया जा सकता है। उसका सत्य बाइबिल तथा नाजेरथ के ईसा के मसीही स्वभाव के बारे में था। उसके पूर्वजनों ने यह स्थापित किया था कि नाजेरथ का ईसा था उनके शास्त्रों ने यह सिद्ध किया था कि वह मसीहा था। इसलिए उसने कहा कि हमें अतीत का अध्ययन इसी आधार पर करना 'चाहिए'। उसके इन प्रश्नों को लेकर तथा

इसे 'पन्थनिरपेक्ष' लग रहे सिद्धान्तों से सजाकर क्या पाया जा सकता है?

## दूसरा मध्य बिन्दु

सन् 1160 में पेरिस के नात्रे देम के तात्कालिक कुलाधिपति पीटर कोमेस्टर ने एक पुस्तक 'हिस्ट्रिया स्कॉलैस्टिका' लिखी जिसे यूरोप से सभी भागों में खूब लोकप्रियता मिली। अपने इस 'पवित्र इतिहास' के परिशिष्ट के तौर पर पीटर ने 'मिथकीय' तत्त्वों को लघु अध्यायों की एक शृंखला या *इंसिडेण्ट* के रूप में इकट्ठा किया। इसमें वह कुछ मिथकीय पात्रों को इस प्रकार देखता है : जोरोस्टर ने जादू का आविष्कार किया और चार स्तम्भों पर सातों कलाओं को स्थित किया, आइसिस ने मित्रियों को वर्णमाला तथा लिखना सिखाया, मिनरवा ने कई कलाएँ विशेषकर बुनाई सिखाई, सम्भवतः प्रोमैथ्यूस ने यन्त्रों का ज्ञान दिया। पीटर कोमेस्टर ने कहा कि ये सभी शक्तिशाली आत्माएँ विशयों के समान सम्मान की पात्री हैं और इसलिए वे मानवता की शिक्षिकाएँ हैं, समवेत रूप से सभ्यता की पूर्वज हैं।

दूसरों के अतीत की कहानियों को देखने का यह तरीका इस वर्णपट का एक छोर है। दूसरे छोर पर ऐसी सभी कथाओं के प्रति अवहेलना की एक दृष्टि है। उदाहरणतः बैबिड्रटन मैकाले ने भारत में अंगरेजी शिक्षा की आवश्यकता पर बोलते हुए कहा था

मैं मानता हूँ कि यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि संस्कृत भाषा में लिखी गई पुस्तकों को बनाने में जिन *ऐतिहासिक तथ्यों* को इकट्ठा किया गया है वे इंग्लैंड के प्रारम्भिक विद्यालयों में प्रयुक्त निम्नतम स्तर के संक्षिप्त विवरणों से भी कम महत्त्वपूर्ण है। हमारे सामने प्रश्न सिर्फ यही है कि हम (संस्कृत तथा अरबी) भाषाएँ पढ़ाएँगे जिनमें, इस विश्व की सम्मति में, कोई ऐसी पुस्तक नहीं है जो हमारी पुस्तकों से तुल्य हो; जब कि हम यूरोपिय विज्ञान पढ़ा सकते हैं, हम उन विषयों को पढ़ाएँगे, जो विश्व की सम्मति में जब भी यूरोप के ज्ञान से भिन्नता रखते हैं तब बुरा ही देते हैं.... और जब हम सच्चे दर्शन तथा तथ्यपरक इतिहास को आगे बढ़ा सकते हैं तब हम उन चिकित्सकीय सिद्धान्तों को बढ़ावा देंगे जो कि घोड़े को नाल लगानेवाले एक अंगरेज से भी बुरे हैं, उस खगोलविद्या को आगे बढ़ाएँगे जिस पर अंगरेजी विद्यालयों में पढ़नेवाली लड़कियाँ भी हँसेंगी, उस इतिहास को पढ़ाएँगे जिस में राजा तीस फुट ऊँचा हुआ करते थे और तीस हजार साल राज्य करते थे और उस भूगोल को बढ़ाएँगे जिसमें शीरा और मक्खन से बने समुद्र हों? (जॉन की, 1981, इण्डिया डिस्कवर्ड, कॉलिंस, लन्दन, पृ. सं.

77 में उद्धृत।)

हमारे इस आलेख के उद्देश्यों के लिए ये दो दृष्टियाँ एक ही सिक्के के दो पहलू के समान हैं। एक पहलू अपनी संस्कृति के अतीत की कहानियों को छद्म ऐतिहासिक विवरण के रूप में तो देखता है लेकिन इनमें कुछ सार का अंश भी पाता है। यह मान लेता है कि लोग ऐतिहासिक कहानियाँ बनाना नहीं जानते थे (या इसकी चिन्ता नहीं करते थे) और उनसे 'सत्य' ग्रहण करने के लिए उनकी 'व्याख्या' करनी पड़ती है। उदाहरणतः इसी प्रकार यूरोपीय बौद्धिकों ने इतालवी पुनर्जागरण के दौरान यूनानी मिथकों को ग्रहण किया। उन्हें लगता था कि यूनानी कथाएँ मानवीय गुणों के बारे में बताती हैं, लेकिन ये कहानियाँ इन (साहस, औदार्य, न्याय आदि) गुणों को 'नायकों' तथा 'देवताओं' के रूप में बताती हैं। अतः प्राचीन यूनानी समाज के मिथकों तथा कथाओं को समझने के लिए 'सहानुभूतिपूर्वक' पढ़ना पड़ा।

इसके विपरीत यूरोपीय जागरण के 'नेता' सिक्के के दूसरे पक्ष के उदाहरण थे। 'प्राचीनों के साथ अपने कलह' में वे प्राचीन यूनानी समाज, विशेषकर उनके मिथक तथा कथाओं के मूल्यांकन को लेकर बहुत उग्र थे। इन 'मिथकों' तथा 'कहानियों' जो कि मुक्त मानवीय कल्पना की उड़ान थे, के विपक्ष में 'तथ्य' तथा 'इतिहास' हैं। हम उन कहानियों को केवल 'मनोरंजन' के लिए पढ़ते हैं, उन्हें कोई अन्य पदवी प्रदान करना भ्रम में रहना है। वे अतीत के बारे में असत्य हैं, जिन्हें कवियों ने निर्मित किया। थूसिडिड्स जैसे इतिहासकारों को छोड़ अन्य प्राचीनों ने केवल मिथक तथा कहानियाँ गढ़ीं। हमें यह बताने के बदले कि 'हमारा अतीत सत्यतः क्या था', ये कहानियाँ हमें छलती हैं।

इन दोनों दृष्टियों में एक बात समान है कि हमें इन कहानियों को गम्भीरता से नहीं लेना 'चाहिए'। ये कहानियाँ अतीत के बारे में नहीं हैं, ये केवल मानवीय कल्पना की उपज हैं। केवल इतिहासविवरण हमें अतीत के बारे में बता सकता है, और यदि हम अतीत की कुछ भी चिन्ता करते हैं तब हमें 'इतिहास' का अध्ययन करना चाहिए। दूसरे शब्दों में ये दो दृष्टियाँ जो कहती हैं वह इस प्रकार है, अतीत के बारे में हमारी कहानियाँ *किसी वास्तविकता के बारे में नहीं हैं*। वे संसार की घटना या वस्तु के बारे में नहीं बताती हैं। यदि हम पर्याप्त समझदार हैं तब ये कहानियाँ हमें लेखकों के संसार के बारे में परोक्षतः बताती हैं, वे हमें मानवीय कल्पना की प्रकृति के बारे में भी *बताती हैं*। और वे कहानियाँ स्वयं *किसी के बारे में नहीं हैं*। यदि यह सत्य है तब एक बड़ा प्रश्न उठ खड़ा होता है जिसे वे कभी नहीं पूछते हैं। वह यह कि तब पुरानी पीढ़ियों के लोगों ने वे कहानियाँ क्यों गढ़ीं? संसार के बारे में बात करने के स्थान पर उन्होंने केवल गल्प क्यों गढ़ा? यदि थूसिडिड्स सच्चा इतिहास लिख सकता था, तब वाल्मीकि तथा व्यास क्यों नहीं? और ऐसी ही बातें।

कुछ और भी है जो उन्हें एक करता है। वह यह है कि मानते हैं कि मानवीय अतीत का अध्ययन किस प्रकार करना 'चाहिए।' कोमेस्टर के लिए, उसके दर्शन ने उसे निश्चय प्रदान किया था। मैकाले (और पुनर्जागरण के चिन्तकों) के लिए यह समान रूप से स्पष्ट था कि वे अतीत का अध्ययन करना जानते थे, जबकि पहले की पीढ़ियाँ नहीं जानती थीं। उन्हें गलत न समझें, पुनर्जागरण के 'नायक' मानवीय अतीत को बल देने के लिए किसी वैज्ञानिक वृत्ति को तरजीह नहीं दे रहे थे। पीटर कोमेस्टर के ही समान उनकी वृत्तियाँ भी विश्वासजनित थीं। किस प्रकार?

कैथोलिक तथा प्रोटेस्टेण्ट के विवादों का एक कारण 'चमत्कार' भी था। कैथोलिक गिरजाघरों का मानना था कि संसार में चमत्कार होते हैं, वस्तुतः अब भी ईसाई मानते हैं कि पवित्र सम्मर्द में रोटी तथा शराब ईसा के मांस तथा रक्त में परिवर्तित हो जाते हैं। वे संसार में मृत सन्तों के हस्तक्षेप को भी मानते हैं, वे मकबरों आदि में चामत्कारिक शक्तियों की उपस्थिति भी मानते हैं। उनके तथा चमत्कारों के प्रति उनकी इस दृष्टि के प्रोटेस्टेण्ट विरोधी थे, वे ऐसे हस्तक्षेप नहीं मानते थे, चमत्कारों को केवल ईश्वरीय कृत्य बताते थे, तथा मकबरों की शक्ति के प्रति घोर घृणा दर्शाते थे। संक्षेपतः, प्रोटेस्टेण्टों के विश्वास ने मानवीय अतीत को ऐसा मानने पर विवश किया जो कैथोलिकों द्वारा प्रयुक्त अध्ययन की प्रविधि से अलग प्रविधि की माँग करता था। मानवीय अतीत अधिक-से-अधिक उन्हीं कार्यों से सम्बद्ध हो सकता था जो मनुष्य कर सकता था। मानवीय अतीत में कुछ भी अलौकिक नहीं होता, वस्तुतः ईसा मसीह की मृत्यु तथा पुनरुज्जीवन (और उनके चमत्कार) का मनुष्य से कोई सम्बन्ध नहीं है। बाइबिल ईश्वर के सभी आविष्कारों का विवरण देता है (क्योंकि ये चमत्कार हैं), और इसके अतिरिक्त जो कुछ भी है, वह मनुष्य द्वारा जोड़ा गया है। बाइबिल में जो कुछ भी वर्णित है, उससे बाहर के किसी भी चमत्कार की बात मानवीय मस्तिष्क की बीमारी को दर्शाता है। मानवता का इतिहास केवल उनका पतन दिखाता है; यह उनके पतन, अनावश्यक आदतों तथा भूलों की कहानी है। मानवीय अतीत केवल इस बात का लेखा-जोखा है और 'होना चाहिए' कि मानव क्या प्राप्त कर सकता था और उसने 'वस्तुतः' क्या प्राप्त किया। मानवीय इतिहास हमारे मस्तिष्क को सम्पन्न नहीं करता है, अधिक-से-अधिक यह हमें निराश करता है। कोई भी वांछित मानवीय उन्नति इन कहानियों से नहीं मिलती है। ऐसी कहानियाँ केवल असत्य कहती हैं और भटकाती हैं। मानवीय अतीत का 'इतिहास' केवल इस बात का विवरण है कि कैसे प्राणी हैं हम। यह सोचना कि मानवीय अतीत की कहानियाँ यह सिखा सकती हैं कि कैसे जीवन जीना चाहिए या प्रसन्न रहना चाहिए या उन्नति करना चाहिए, इतिहासविवरण को वह शक्ति देना है, जो उसमें नहीं है और जिसके होने की सम्भावना भी नहीं है।

केवल ईश्वरीय कृपाजो कि 'सत्य पन्थ' है ही उस दयनीयता से उबार

सकती है जो मानवता का अतीत, वर्तमान तथा भविष्य है। यह 'सत्य पन्थ' का कार्य है कि वह सिखाए कि सुख क्या है और इसे कैसे प्राप्त करें। इससे अलग सोचना ईश्वर की सत्ता तथा शक्ति को मानवों को प्रदान करना है। पुनर्जागरण के चिन्तकों ने मानवीय अतीत के प्रति इस मुद्रा को फिर से प्रस्तुत भर किया (निःसन्देह अपने समय के अनुसार सजाकर)। मैकाले मानवीय अतीत के बारे में इसी प्रोटेस्टेण्ट सोच का नतीजा है। जिसे हम आज 'इतिहासवृत्ति' कहते हैं अर्थात् हम मानवीय अतीत का अध्ययन क्यों करें, हमें ऐसा कैसे करना 'चाहिए' आदि के बारे में हमारी धारणाएँ प्रोटेस्टेण्ट ईसाइयत में बद्धमूल हैं अर्थात् यह ईसाई तथा प्रोटेस्टेण्ट दोनों है (और इस प्रकार कैथोलिक तथा प्रोटेस्टेण्ट दोनों द्वारा इसका साझा है)।

## समान परिणति

औपनिवेशिक शासन में अँगरेजों ने अपने विश्वास हम पर आक्रामकता के साथ थोपे। उन्होंने हमें हमारे अतीत के बारे में इस तरह प्रश्नविद्ध किया, जिस तरह हम पहले कभी नहीं हुए थे। हमारे बहुस्तरीय आख्यानों, महाकाव्यों तथा पुराणों को इतिहासवृत्त के रूप में ग्रहण कर हमारा उनकी 'सत्यता' में विश्वास करने के लिए उपहास किया। हमारे उन बौद्धिकों ने, जिनकी (इस्लामी तथा अँगरेज दोनों) औपनिवेशिक साम्राज्य के दौरान की कहानी उनके आगे आत्मसमर्पण की दुःखभरी कहानी है जिन्हें वे नहीं समझ पाए, केवल दो मार्गों का अनुसरण किया, या तो उन्होंने इन कहानियों की सत्यता से इनकार किया या यह दिखाया कि ये कहानियाँ अतीत का 'सत्य' विवरण थीं। इन बौद्धिकों को यह बात नहीं सूझी कि वे उपनिवेशवादियों की संस्कृति का अध्ययन करें तथा समझें कि वे किस प्रकार के प्रश्न पूछ रहे हैं। उन्होंने सीधे-सीधे यह मान लिया कि औपनिवेशिक सत्ताधीशों के व्यवहार कारण, तर्क तथा वैज्ञानिकता के उदाहरण थे। प्रथम चरण में हमारे बौद्धिकों ने भारतीय परम्पराओं में इतिहासवृत्ति के अभाव को स्वीकार किया तथा वे भारत का इतिहास लिखकर इस कमी को पूरा करने लगे। निःसंदेह ये सभी उस 'इतिहासदर्शन' पर पूरी तरह आधृत थे, जिसे यूरोपीयों ने भारतीय महाद्वीप में बहुत सस्ते दामों पर बेचा था। दूसरे चरण में, वे भारतीय परम्पराओं तथा अतीत के बारे में इसकी कहानियों का उपहास उड़ाने में यूरोपीयों के साथ मिल गए। तीसरे चरण में वे भारत के बारे में यूरोपीय इतिहासचित्रण को सीधे-सीधे ले आए और उन्हें भारतीय पौराणिक गाथाओं में मढ़ने लगे। इस प्रकार भारतीय संस्कृति या सभ्यता के गहन 'अध्ययन' पर आधृत इतिहास लिखने की बात कोई नई नहीं है। यह भारतीय संस्कृति और परम्परा को लेकर प्रोटेस्टेण्ट निन्दा की तात्क्षणिक प्रतिक्रिया है।

ऐसा इतिहासवृत्त क्या उपलब्ध करता है? उदाहरण के तौर पर, वे हमें बताते हैं कि महाभारत युद्ध हुआ होगा, लेकिन वे यह भी बताते हैं कि यह कबीलों के बीच का युद्ध था। काव्यात्मक अतिशयोक्तियों ने इसे महाकाव्यात्मक रूप दिया है। इस प्रकार ये इतिहासकार अन्ततः हमें यही भरोसा दिलाते हैं कि आज से कुछ सहस्र वर्षों पूर्व उत्तर भारत में कहीं पर यह युद्ध हुआ था। जहाँ तक कृष्ण द्वारा कनिष्ठा पर पर्वत धारण करने या घटोत्कच द्वारा राक्षसोचित चमत्कारों का उपयोग करते हुए युद्ध करने का प्रश्न है, वे अपना उपहास छिपाने का भी प्रयत्न नहीं करते हैं और कहते हैं ये या तो निरा बकवास हैं या काव्यात्मक अत्युक्तियाँ। निःसन्देह हम (उनसे) जान पाते हैं कि कोई मनुष्य कनिष्ठा पर पर्वत धारण नहीं कर सकता है, 'राक्षस' एक अन्य कबीले का नाम है, जो कि युद्ध से उपरत थी। दूसरे शब्दों में, रामायण तथा महाभारत (और अतीत के बारे में हमारी सभी कहानियाँ) छद्म इतिहासविवरण हैं, या असत्य तथा हमारे दुर्बल पूर्वजों ('दुर्बल' इसलिए कि वे वह भी नहीं कर सके जो थूसिडिडिस या चीनी कई सहस्र वर्ष पूर्व कर सके) के बारे में ऐसी अतिशयोक्तियाँ हैं, जिन्हें हमारी वर्तमान पीढ़ी के इतिहासकार ही अनावृत्त कर सकते हैं।

एक प्रकार से, अभी हाल तक हुई हानि सीमित थी। यह इसलिए था क्योंकि इतिहासकारों का यह समुदाय भारतीय संस्कृति तथा उसकी परम्पराओं को लेकर नेहरू-सरीखे दम्भ से भरा था। वे बड़े विश्वविद्यालयों के प्रागण में गर्व से चलते थे, विदेशों में अपना पत्र पढ़ने जाते थे, और अज्ञान तथा अन्धविश्वास में पले भारतीय जन से अपने को बहुत ऊँचा मानते थे। इन 'वैज्ञानिक' प्रश्नों की उत्पत्ति तथा अर्थ के बारे में अपने घोर अज्ञान से अनभिज्ञ ये इतिहासकार उन्हीं बातों को दुहराकर सन्तुष्ट थे जो उनके वैश्विक मालिक चाहते थे। उन्होंने अपनी 'पन्थनिरपेक्षता' तथा भारतीयों की 'धार्मिकता' के बीच एक दीवार खड़ी कर रखी थी।

पिछले दशकों में यह चित्र बहुत अधिक तथा खतरनाक ढंग से बदल गया है। हमारे लिए इस परिवर्तन को समझना आवश्यक है।

अँगरेजी 'उदारवाद' तथा नेहरूप्रणीत 'पन्थनिरपेक्षता' दोनों भारत में एक दूसरे प्रकार की प्रतिक्रिया भी लाए। एक प्रकार से तो हम परिचित हैं, वह है भारतीय संस्कृति तथा परम्परा का उपहास करना और पश्चिम को पूर्णता का बिम्ब मानना। एक सदी से ये लोग प्रकाशनों तथा विश्वविद्यालयों में छाए हुए हैं। लेकिन मैं इसके विपरीत ध्रुव की बात करना चाहता हूँ, एक ऐसी प्रवृत्ति की जो मूलतः ईसाई अँगरेज प्रोटेस्टेंटवाद की उपज है, लेकिन यूरोपीय ईसाइयत की अन्य धाराओं से भी प्रभाव ग्रहण करती है।

यह प्रवृत्ति दूसरी ओर जाती है, यह दावा करती है कि अतीत के बारे में हमारी कहानियाँ हमारा सटीक इतिहास हैं। हमारे पास भी इतिहासकार रहे हैं, हम भी अतीत के बारे में 'सत्य' जानते हैं, और जो हम अपने अतीत के बारे में कहते हैं वे 'सत्य' हैं, काव्यात्मक झूठ या अतिशयोक्ति नहीं। संघ परिवार को लें।

वस्तुतः संघ परिवार कम-से-कम दो धाराओं का मिलन है। एक ओर यह भारतीय संस्कृति के ईसाई विवरणों का विरोध करता है। यह भारत की संस्कृति, उसकी परम्परा, अतीत के बारे में उसकी अनेक कहानियों में कुछ ऐसा पाता है जो ठोस है। वह यह भी अनुभव करता है कि इस धरती पर रहने के अनेक ढंग हैं, ईसाई तथा इस्लामी 'रहने के ढंग' कई ढंगों में से केवल दो ढंग हैं। और वह प्रत्येक भारतीय के बारे में की गई पन्थप्रेरित 'सामान्य' निन्दा को ध्यान से सुनते हुए उसका नासमझी से विरोध भी करता है। लेकिन यह भी पाश्चात्य संस्कृति से पूरी तरह अनभिज्ञ है।

**दूसरी ओर संघ परिवार के पास कोई बौद्धिक नहीं है। क्यों, यह मुझे स्पष्ट नहीं है। इसके पास केवल विचार हैं। किसी आन्दोलन के लिए अवधारणाएँ वैसी ही हैं जैसे वेश्याओं के लिए दलाल, वे बिक्री के लिए सबकुछ कहते और करते हैं। बौद्धिक सोध के स्थान पर संघ परिवार के ये विचार उसे चुनते हैं जो सहजता से मिल जाता है। दो बातें बड़ी आसानी से मिल जाती हैं, राष्ट्रीयता तथा इतिहास के बारे में ईसाई कथाएँ। संघ परिवार के विचारों ने दोनों को अपनाया है।**

ये दोनों बातें मिलाने पर घातक हो जाती हैं। संघ परिवार के विचार वह कार्य करने का भय दिखाते हैं जो सदियों से औपनिवेशिकता प्रयास करने के बाद भी नहीं कर सकी, वह कार्य है भारतीय संस्कृति तथा परम्परा को अपूरणीय क्षति पहुँचाने का काम। वे भारतीय संस्कृति तथा परम्परा को 'बचाने' की बात करते हुए ऐसा कर रहे हैं। मैं बताता हूँ कि कैसे।

अतीत के बारे में हमारी बहुविध कथाएँ हमें संश्लिष्ट अतीत से एक गहरा अनुराग बँधाती हैं। जब हम रामायण या महाभारत पढ़ते हैं, तब हम अनुभव करते हैं कि राम, दुर्योधन, धर्मराज, आदि हमारे राजा थे। जब हम दीपावली मनाते हैं तब हम अब तक के महानतम राजा राक्षसराज बलि के लिए अपने द्वार खोल देते हैं। हम सीता, द्रौपदी तथा अभिमन्यु से जुड़ा अनुभव करते हैं। एकलव्य की कथा सुनने पर हम रो देते थे, कर्ण के प्रारब्ध से द्रवित थे, हमें शकुनि तथा दुर्योधन पर क्रोध आता था। हम चाहते हैं कि भाई राम लक्ष्मण जैसे हों। हम कई तरह से उन सभी चरित्रों से अपने परदादा आदि की अपेक्षा अधिक निकटता अनुभव करते हैं, जिनसे हम नहीं मिले हैं। संक्षेपतः हम स्वयं को इन अनेकविध कहानियों द्वारा समेकित अतीत के रूप में प्रस्तुत वंशवृक्ष का अंग अनुभव करते हैं।



बचपन में हमें हमेशा आश्चर्य होता था कि ये लोग कहाँ रहते थे और कौन-सी भाषाएँ बोलते थे। कृष्ण अपनी स्थानीय भाषा, संस्कृत या कोई अन्य भाषा बोलते थे? यक्ष ने किस भाषा में धर्मराज से प्रश्न पूछे? सीता या हनुमान रावण से कैसे बातें करते थे? खम्भोज के ऋषि या राजा जम्बूद्वीप के लोगों से कैसे सम्प्रेषण करते थे? क्या आज के नागा अर्जुन के वंशज हैं, क्या दिल्ली के निकट की मथुरा वही है जहाँ कृष्ण रहते थे? क्या राम की सहायता करनेवाले वानरों के ही वंशज आज के बन्दर हैं? और ये युग क्या हैं? क्या त्रेता या द्वापर युग केवल यही हैं कि लाखों साल पहले पृथ्वी कैसी थी? और ऐसी ही कई बातें।

जैसे-जैसे हम बड़े हुए और विज्ञान तथा भूविज्ञान सीखा, हमने दोनों को मिलाने का प्रयास किया। त्रेता युग का अस्तित्व कैसे हो सकता है यदि हमारी जाति केवल पचास हजार साल पुरानी है? भीम के पास दस हजार हाथियों तथा दुर्योधन के पास केवल नौ हजार नौ सौ निन्यानवे हाथियों का बल कैसे हो सकता है? धर्मराज स्वर्ग तक कैसे 'चल' कर गए, और यदि वे गए तो त्रिशंकु ऐसा क्यों नहीं कर सके? और ऐसी ही कई बातें। हम अपने बड़ों के पास गए और उनके उत्तरों से, जो कोई उत्तर नहीं थे, हम सन्तुष्ट थे। और धीरे-धीरे हमने ऐसे प्रश्न पूछने छोड़ दिए। इसलिए नहीं कि हम उत्तर जानते थे या ये प्रश्न अनुत्तरणीय थे। हमने ऐसे प्रश्न पूछना छोड़ दिया क्योंकि चाहे जैसे भी हो हमने समझा कि ये प्रश्न पूछने योग्य नहीं थे। एक भारतीय के रूप में बड़ा होना यह सीखना है कि ये कहानियाँ हमारे भूविज्ञान के पाठों से अलग तरह से स्वीकार की जानी चाहिए। अन्ततः हमने उस दृष्टि को अपना लिया जो इन कहानियों की तथ्यता से अप्रभावित रहती है। हम उस स्तर पर पहुँचे जहाँ एक बाली निवासी तथा स्विट्जरलैण्ड मूल के जर्मनी निवासी की निम्नोद्धृत वार्ता का अनुमोदन कर सकें। (विशेल, पीटर, 1982, डर लेसर, दैस इजहिन : फ्रैङ्कफर्टर पोएटिक-वोल्लेंसंजन, हरमन लचरहैण्ड, पृ. सं. 13-14। उद्धरणों में जोर मेरा है।)

जब मुझे पता चला या बताया गया कि हिन्दुत्व एक शिक्षणात्मक पन्थ है जिसमें सभी उत्तम कार्य किसी उद्देश्य के लिए हैं, तब मैंने अपनी सारी वर्जनाएँ छोड़ दीं और प्रश्न पूछना प्रारम्भ किया....

एक युवा बाली मेरा प्राथमिक शिक्षक बना। एक दिन मैंने उससे पूछा कि क्या तुम जानते हो कि राजकुमार राम की कथा, जो कि हिन्दुओं की एक पवित्र पुस्तक है, सत्य है।

बिना हिचके उसने उत्तर दिया कि हाँ।

अच्छा, तो तुम मानते हो कि राजकुमार राम किसी काल में और किसी स्थान पर थे।

उसने कहा कि मैं नहीं जानता कि वे थे या नहीं।

तब यह एक कथा है?

हाँ, यह एक कथा है।

मैंने कहा कि तब किसी ने यह कथा लिखी, मेरा आशय है कि किसी मनुष्य ने इसे लिखा।

उसने कहा कि निश्चय ही एक मनुष्य ने ही इसे लिखा।

मैंने उत्तर दिया कि तब किसी मनुष्य ने इसे आविष्कृत किया हो सकता है, और यह सोचकर कि मैंने उसे विश्वास दिला दिया है, मैंने विजयी भाव अनुभव किया।

लेकिन उसने कहा कि निश्चित ही यह सम्भव है कि राजकुमार राम इस धरती पर नहीं थे?

उसने कहा कि आप क्या जानना चाहते हैं? आप यह जानना चाहते हैं कि यह कथा सच्ची है या नहीं, या केवल यह कि यह घटी थी या नहीं? मैंने कहा कि ईसाई विश्वास करते हैं कि उनके ईश्वर ईसा मसीह धरती पर सचमुच थे और नए टेस्टामेण्ट में ऐसा कहा गया है। लेकिन, ईसाई मानते हैं कि यह वास्तविकता का वर्णन है। उनका ईश्वर सचमुच धरती पर था।

मेरे बाली मित्र ने कहा कि मुझे पहले ऐसा बताया गया था। मैं यह नहीं समझ पाता कि यह क्यों महत्वपूर्ण है कि तुम्हारा ईश्वर धरती पर था, लेकिन मुझे यह लगता है कि यूरोपीय पवित्र नहीं हैं। क्या यह सत्य है? मैंने कहा कि हाँ, यह सत्य है।

यदि हम इस वार्ता से असहमत भी हों और सुविधाजनक उत्तरों को प्राथमिकता दें तब भी मुख्य बिन्दु यह है कि हमने सीखा कि इन कहानियों की 'सत्यता' के प्रति हमारा दृष्टिकोण इन कहानियों तथा 'अपने सामूहिक अतीत' के रूप में इन कहानियों के स्वीकार से स्वतन्त्र है। हमारे अतीत के बारे में कही गई ये कहानियाँ इस धरती पर घटीं या नहीं, यह 'तथ्य' इन कहानियों को स्वीकार करने के लिए कोई अर्थ नहीं रखता। यह दृष्टिकोण तब तक कार्य करता है जब तक कि हम यह न मान लें कि इन कहानियों के स्वीकार का आधार उनकी 'ऐतिहासिक सत्यता' है।

क्या होता है जब लोग कहते हैं कि 'रामसेतु' है, अथवा 'अयोध्या' उत्तर भारत में कहीं स्थित है? क्या होता है जब ऐसे 'ऐतिहासिक' दावे लोगों के चेतन में पैठ जाते हैं?

प्रारम्भ में प्रसन्नता तथा उत्साह होता है। इसलिए नहीं कि हम अब कह सकते हैं कि अन्ततः रामायण में जो कुछ वर्णित है, वह सत्य है। लेकिन इसलिए कि हमें लगता है कि अतीत के साथ हमारे सम्बन्ध स्पष्टतया उपस्थित हो गए हैं। हमें लगता

है कि हम इन आनुभाविक संकेतकों को पहचानते हैं क्योंकि हम उनसे परिचित हैं। द्वारका, वृन्दावन, कुरुक्षेत्र, अयोध्या आदि हमारे नगर तथा हमारे अतीत हैं। सहसा, एक रोमांच-सा होता है कि कुछ ही दिनों की यात्रा में हम कुरुक्षेत्र में पहुँच जाते हैं। लेकिन, यह केवल पहला चरण है। इसके बाद के चरण में क्या होगा जब इस दावे को आगे बढ़ाया जाता है, जैसा कि निश्चय ही होने जा रहा है?

अब आगे वर्णित स्थिति को समझें। यह एक सामान्य ज्ञान हो जाएगा कि कौरवों और पाण्डवों के बीच का युद्ध एक कबीलाई युद्ध था, जो कि लगभग तीन हजार साल पहले उत्तर भारत में कहीं लड़ा गया था। और यह भी कि 'राक्षस', 'वानर' किन्हीं समुदायों के नाम थे। कृष्ण किसी समुदाय के काली चमड़ी के आदमी थे जो उन्नति कर गए थे, राम उत्तर भारत में कहीं पर राजा थे, द्रौपदी किसी ऐसे ही समुदाय से थी जिसमें बहुपतित्व का चलन था, और ऐसी ही कई बातें हम सीखेंगे। संक्षेपतः, हमें लगेगा कि हमारे महाकाव्य तथा पुराण घटिया ढंग से लिखे गए इतिहास थे जो हमारी तरह ही सामान्य मनुष्यों का विवरण देते हैं। हम वही पाते हैं जो हम सदा जानते हैं एक पेड़ से दूसरे पेड़ पर झूलनेवाले बन्दरों को हम भारत और श्रीलंका के बीच सेतु बनाने के लिए प्रशिक्षित नहीं कर सकते हैं।

फिर 'दलित' और प्रगतिवादी बौद्धिक आगे आते हैं। वे कहते हैं कि 'राम' नाम के किसी राजा के 'दासों' द्वारा किए गए कार्यों को किसी ब्राह्मण कवि ने 'बन्दरों' का काम कह डाला। वे आगे कहते हैं कि इन दासों के कार्यों को 'बन्दरों' का काम कहकर 'ऊँची जातियों' 'दलितों' के दमन के लिए अपनी घृणा तथा असम्मान का ही परिचय देती हैं। जैसा कि 'आर्यों' का गुण था, ब्राह्मण पुजारी इन 'दासों' को मनुष्य मानने को तैयार ही नहीं थे। यही तर्क दानवों और राक्षसों के साथ भी दुहराया जाता है, हम 'खोज पाते' हैं कि 'द्रविड़' ही हमारे पुराणों के राक्षस और दानव थे।

जो बात मैं यहाँ कह रहा हूँ, उसका अनुचित अर्थ न लगाएँ। कोई अर्द्धसत्य या अर्द्धसत्यों का समुच्चय इन दावों को सत्यता प्रदान नहीं कर सकता। वे केवल कल्पना या अनुमान ही रहेंगे। लेकिन उन्हें 'वैज्ञानिक' और 'ऐतिहासिक' अवधारणाओं की तरह प्रतिपादित किया जाता है और वे शीघ्र ही भारतीय अतीत के 'तथ्य' बन जाते हैं। वे वही सम्मान प्राप्त कर लेते हैं जो आज 'इण्डोलॉजिकल' तथ्यों को प्राप्त हैं। उदाहरण के तौर पर किस बौद्धिक ने इस परिकल्पना को चुनौती दी है कि 'बौद्ध मत' ने 'ब्राह्मणवाद' के विरुद्ध संघर्ष किया है। लगभग किसी ने नहीं। कितने उन परिस्थितियों के बारे में जानते हैं जिन्होंने इस परिकल्पना को जन्म दिया या कितने उस ईसाइयत के थैले को जानते हैं जिसकी आवश्यकता इस परिकल्पना को सत्य सिद्ध करने में है। शायद ही कोई।

ठीक उसी तरह, जब नई पीढ़ी के साथ इस प्रकार की कहानियाँ जुड़ गई हैं,

कौन उनमें से राम, कृष्ण या आंजनेय का भक्त बनना चाहेगा? कितने उन मन्दिरों में जाएँगे या उन्हें बनवाएँगे? जब वे इस जानकारी के साथ बड़े होते हैं कि कुरुक्षेत्र नाम का स्थान उत्तर भारत में कहीं था जहाँ रहने वाली स्थानीय जातियों ने ईसा से पाँच सौ साल पूर्व आपस में एक युद्ध लड़ा था, जब वे इस जानकारी के साथ बड़े होते हैं कि 'नागा' नाम की भारत के किसी अनजाने क्षेत्र में रहनेवाली एक जाति भी इस पौराणिक गाथा में अपना स्थान रखती है जिसका सटीक संस्करण अमरीका के किसी यूनिवर्सिटी प्रेस से निकला है, जब वे यह जानने लगते हैं कि किसी अनजाने स्थान (बीकानेर, अयोध्या आदि) की स्थानीय घटनाएँ उनके सहजविश्वासी पूर्वजों के सामने भारत के इतिहास के नाम पर प्रस्तुत की गई थीं तो उनका उसके साथ क्या सम्बन्ध रह जाएगा जिसे हम अपना अतीत समझते हैं।

सम्भवतः वे अपने अतीत और उसकी कहानियों के बारे में लज्जित होंगे कि ये कहानियाँ उन घटिया-से-घटिया बातों का समर्थन करती हैं जो विश्व ने भारत के बारे में कही हैं। भारतीय संस्कृति और उसके 'पन्थ' मनुष्यों के साथ अन्याय करने के लिए बनाए गए थे। निश्चय ही 'हिन्दुत्व' मुख्य अपराधी होगा।

हम लगभग पहले चरण को पार कर चुके हैं। संघ परिवार के आदर्श दूसरे चरण को प्रारम्भ कर रहे हैं। 'ऐतिहासिक सत्यों' की प्रकृति के बारे में प्रश्न करने की बजाए, उस पन्थविशेष की संस्कृति का अध्ययन करने की बजाए जहाँ से ऐसे प्रश्न उद्भूत हुए, अर्थात् मानव समुदायों और अतीत के बारे में उनकी कहानियों के बीच के सम्बन्धों को समझने की बजाए संघ परिवार के आदर्श हमारे पुराणों और उनकी कहानियों की 'ऐतिहासिकता' स्थापित करना चाहते हैं। इस ईसाई अवधारणा को लागू करने की प्रक्रिया में ये आदर्श उन परिणामों को ही जन्म देंगे जिसे इस्लाम और ईसाइयत ने हमेशा चाहा है, वह है भारत की उस बहुविश्वासी और बहुस्तरीय संस्कृति का नाश। **जो मुस्लिम राजा और बाइबिल प्रचारक प्रोटेस्टेण्ट सदियों में प्राप्त नहीं कर सकें, उसे संघ परिवार के सिद्धान्त दशकों में कर देंगे।**

*यदि किसी समुदाय के अतीत को विनष्ट करना है तो बस इतना कीजिए कि उसे एक इतिहास दे दीजिए।* जिसे हम आज 'इतिहास' कहते हैं, वह ईसाई मत का सामान्यीकरण है। ईसाइयत (इस्लाम और यहूदी) उन सभी के प्रति शत्रुतापूर्ण है जो उससे अलग हैं। विशेषतः उनके प्रति जिन्हें वह बहुविश्वासी और विधर्म समझता है। यह शत्रुता उनके सामान्यीकृत रूप में भी वर्तमान रहती है। **राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने की त्वरा में संघ परिवार के आदर्श पाश्चात्य संस्कृति के बारे में सम्पूर्ण अज्ञान के कारण ईसाई विचार को भारतीय संस्कृति पर थोपते हैं। जहाँ भारत की बहुविश्वासी संस्कृति पर ईसाइयत और इस्लाम के सीधे प्रहार असफल सिद्ध हुए, वहीं भारत पर ये छद्म प्रहार विरोध न पाने पर सफल हो जाएँगे। इस सभी में सबसे दुःखद बात है कि संघ परिवार यह विश्वास करता है कि**



वह भारतीय संस्कृति की सहायता कर रहा है, जबकि उसकी मान्यताएँ भारतीय संस्कृति को विनष्ट करने में सहायता कर रही हैं।

अतः ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे सामने उपस्थित प्रश्न यही है कि क्या हमें उस इतिहास की आवश्यकता है जिसे ईसाइयों ने लिखा है, या हमें अपने अतीत को बनाए रखने की आवश्यकता है? भारतीयों को किसकी आवश्यकता है?

## मीडिया का अपकर्ष

दीनानाथ मिश्र\*

कोई घटना घटित हो और लोग उसे जानना चाहें, तो उसे समाचार बनाकर छाप देना, यह समाचार के दायरे में आता है। मान लीजिए कोई ट्रक दुर्घटना हुई, तो आमतौर पर 80 कि.मी. के दायरे में वह समाचार बन जाता है। समाचार का वजन होता है, गति होती है, महत्त्व होता है। जिस दिन मैं शिमला में था और जूता पॉलिश करा रहा था, कोई साढ़े आठ बजे की घटना होगी, संजय गांधी की उस दिन वायु दुर्घटना हुई थी। मृत्यु कोई पाँच मिनट पहले हुई थी। बूट पॉलिश करने वाला व्यक्ति पाँच मिनट में वह घटना जान गया था। इसमें आप चाहें तो समाचार की गति देख सकते हैं, महत्त्व देख सकते हैं, वजन देख सकते हैं। इसी तरह न्यूयार्क के विश्व व्यापार के ट्विन टावर पर जब दो हवाई जहाज टकराए, दूसरी टकराहट के बाद दुर्घटना का आँखों देखा चित्रण टेलीविजन से संसार के कोने-कोने में पहुँच गया। उस ध्वस्त होते टावरन को करोड़ों लोगों ने अपनी आँखों से देखा। इसमें भी आप समाचार की रफ्तार, महत्त्व और वजन देख सकते हैं।

समाचार लिखने वाले को कब, क्या, कहाँ, क्यों, कैसे आदि सवालों के जवाब देने पड़ते हैं और तब कहीं समाचार पूरा होता है। आपने अखबारों के दफ्तरों को देखा होगा, वहाँ दर्जनों एजेंसियों और संवाददाताओं से आने वाले सैकड़ों समाचारों के ढेर लगे रहते हैं। मुख्य उप सम्पादक अपने अखबार के लिए अनउपयोगी समाचारों को निकालता रहता है, उपयोगी को छँटता रहता है। चाहें तो हम उसको दोनों भूमिकाओं में देख सकते हैं पत्रकार और पत्रफाइल। लगातार सम्पादन क्रिया चलती रहती है। पेज आकार लेते रहते हैं, डेडलाइन का भूत सवार रहता है। जो पृष्ठ जब बनना है और जिस समय तक सारे पृष्ठ बन जाने हैं, इसी सब में खासी माथापच्ची होती है। छपाई के लिए नवीनतम तकनीक पर पेज सवार हो जाते हैं और एक साथ सारा

\* दीनानाथ मिश्र, वरिष्ठ पत्रकार एवं स्तंभ-लेखक, संस्थापक अध्यक्ष, इण्डिया फर्स्ट फाउण्डेशन एवं प्रधान सम्पादक, एटरनल इण्डिया एवं चिरन्तन भारत, दिल्ली।

अखबार छप कर सुसज्जित होकर प्रतिघंटे 40-50 हजार अखबार के हिसाब से निकलता जाता है। साथ-साथ बंडल बँधते जाते हैं और अपनी गाड़ियों में लदकर वितरण केन्द्र पर चले जाते हैं, वहाँ से हॉकर समय से झगड़ता हुआ अखबार के बंडल उठाता है और घरों में तेजी से अखबार फेंकता हुआ चला जाता है। हर अध्याय का डेडलाइन होता है। जल्दबाजी इतनी होती है, कि कई बार गलतियाँ रह जाती हैं।

यह घटना मैं 20-25 साल पहले की तर्नॉलोजी के समय की कह रहा हूँ। आपात काल का समय था। छोटे शहरों में तहसीलदार भी होते हैं, और तहबीलदार भी। उप सम्पादक ने तहबीलदार शब्द नहीं सुना था, सो उसने तहबीलदार को बदलकर तहसीलदार कर दिया था। समाचार अपने अन्तिम रूप में तहसीलदार के परिवार में हुई मृत्यु का संदेश दे रहा था। मृत्यु तहबीलदार के यहाँ हुई थी। लेकिन लोग पहुँचने लगे तहसीलदार के यहाँ। उसने अखबार मालिक से इसकी शिकायत की। मालिक ने इसका सुधार अगले दिन कर देने का आश्वासन दिया। संशोधन कर दिया गया। दूसरे दिन मुख्य संवाददाता की नजर पड़ी। “यह तहबीलदार क्या होता है?” उसने संशोधन करके तहसीलदार का तहसीलदार ही रहने दिया। मालिक घबराया। तहसीलदार महोदय ने कहा कि अब मेहरबानी कीजिए, आप संशोधन मत कीजिए। लेकिन मालिक और सम्पादक वचनबद्ध थे। भरी बैठक में संशोधन करने का आदेश दे दिया गया। पालन हुआ। अब प्लेट चढ़ चुकी थी। फॉरमैन की नजर गई, उसने कहा इतनी बड़ी गलती चली जा रही है “यह तहबीलदार क्या होता है?” छपाई के चरणों का वह सर्वोच्च अधिकारी होता है, उसने अपने हाथ से तहबीलदार को काटकर तहसीलदार कर दिया। इसके बाद विजयी भाव से उसने बताया कि आज अखबार में एक गलती को उसने दुरुस्त कर दिया। तीसरे दिन जब गलती फिर से दोहराई गई तो तहसीलदार सचमुच क्रुद्ध हो गए। आपातकाल के दिन थे। अधिकारी अधिकारों से लैस थे। सम्पादक की तो माफी माँगने की भी हालत नहीं रह गई। कहने का मतलब यह कि अखबार के दफ्तर में गलती करने का मौलिक अधिकार किसी को नहीं। फिर भी गलतियाँ हो जाती हैं। कहते हैं कि त्रुटिशून्य छपाई की गारंटी एनसाइक्लोपीडिया वगैरह में होती है। यहाँ तक कि एक प्रख्यात एनसाइक्लोपीडिया में भी एक बार स्पैलिंग की 148 गलतियाँ थीं।

एक दिन एक बड़े आदमी की मृत्यु हुई। इन्तेफाक से खबर छपने के पहले मैनेजर साहब के भतीजे की भी मृत्यु हो गई। सवाल आया कि कौन-सी मृत्यु की खबर जाए। सभी निष्ठावान कर्मचारी मैनेजर साहब की भतीजे की मृत्यु की खबर के पक्षधर थे। वह जो महान व्यक्ति चल बसा था, उसकी खबर गायब थी और आखिरकार मैनेजर साहब की भतीजे की खबर सोत्साह गई। एक कहावत है दुल्हन वही जो पिया मन भाए। अखबारों के पैमाने पर देखें तो “खबर वही जो सम्पादक मन भाए।”

इन दिनों अखबारी दुनिया में दुल्हनें धन शक्ति से खासी सम्पन्न हो गई हैं। दुल्हन अगर चुनाव के प्रत्याशी के रूप में हो तो और जिसका जो हक बनता है, उस संवाददाता या सम्पादक का जो हक बनता है, वह उसे मिल जाता हो, तो खबर तो उसकी लगेगी ही। खबर का महत्त्व वगैरह का कोई मतलब नहीं, जो दुल्हन दान दक्षिणा देगी, खबर तो उसकी ही लगेगी। दुल्हन अगर उद्योगपति के अवतार में हो तो भी खबर लगेगी। दान दक्षिणा से समाचार खबरीले होते हैं।

लोकतन्त्र का चौथा स्तंभ है मीडिया। लोकतन्त्र के तीन स्तंभ कितने मजबूत हैं, पहले यह देख लेते हैं। अभी पिछले दिनों झारखंड के पूर्व मुख्यमन्त्री के बारे में चार हजार करोड़ रुपए का घोटाला करने की खबर सामने आई ही थी। यह है कार्यपालिका की हालत। विधायिका की हालत अखबारों ने तब रस ले ले कर छापी थी जब दस हजार रुपए लेकर विधायक छिपे हुए कैमरे पर प्रश्न पूछते हुए दिखाई दिए। बात करते हैं न्यायपालिका की। निचली अदालतों में तो खुलेआम भ्रष्टाचार चलता है। उच्च न्यायालय के स्तर पर भी भ्रष्टाचार चलता रहता है। यहाँ तक कि अब सर्वोच्च न्यायालय भी शक के घेरे में है। अब बचा लोकतन्त्र का चौथा स्तंभ पत्रकारिता। पर क्या सचमुच पत्रकारिता का स्तंभ बचा है!

पिछले दिनों पंजाब के मुख्यमन्त्री प्रकाश सिंह बादल पत्रकारिता पर आयोजित एक गोष्ठी में बोल रहे थे। बादल ने यह कहा कि अखबारों में ताकत होती है। अखबार चाहें तो घोड़े को गधा बना दें। और लोग मानेंगे, कि वह गधा है। असल में बादल साहब को गुस्सा आया था। उन्होंने बड़ी मेहनत करके एक प्रचंड सभा की। मगर तब के मुख्यमन्त्री अमरिंदर सिंह ने अखबार का एक पृष्ठ खरीद लिया था। वे खरीदे हुए पृष्ठ में चाहे जो लिखें। बादल साहब की रैली प्लॉप हो गई। और चमत्कार यह कि सम्भवतः बादल साहब ने एक दूसरा पृष्ठ खरीद रखा था। उसी दिन के, उसी अखबार के बादल साहब के खरीदे पृष्ठ के अनुसार रैली अभूपूर्व थी। उस दिन का वह अखबार अजायबघर में सजाने लायक है। एक ही अखबार के दो पृष्ठों में एक ही घटना के दो तरह के परस्पर विरोधी वर्णन शायद ही कहीं देखने को मिलें।

20वीं शताब्दी के पूर्वाध में पत्रकारिता एक मिशन था या यूँ कह लीजिए कि जनजागरण के धुन के धनी लोग अखबार निकाला करते थे। इसमें इतने बड़े-बड़े लोग थे कि वे स्वतन्त्रता के यज्ञ में थे और हथियारों के साथ कलम के सिपाही भी थे। आज पत्रकारिता मिशन तो हरगिज नहीं, बड़ा व्यवसाय जरूर है। जो बड़ा व्यवसाय करते हैं वे बड़े भ्रष्ट हैं, जो सहायक की भूमिका में हैं वे भ्रष्टाचार की सहयोगी भूमिका में हैं। स्थिति निराशाजनक होने के बावजूद आज भी 15-20 प्रतिशत पत्रकार, पत्रकारिता धर्म का पालन कर रहे हैं। अखबारी दुनिया के भ्रष्टाचार के बारे में एक नामी पत्रकार पी. साईनाथ ने ‘हिन्दू’ के तीन अंकों में धारावाहिक विवरण लिखे। पिछले लोकसभा चुनाव में कितने करोड़ का भ्रष्टाचार मुख्यमन्त्रियों और मन्त्रियों ने

किया, कितनी अखबारी जमीनें खरीदीं, खानापूर्ति के लिए कितने झूठे आँकड़े प्रस्तुत किए, यह सब विवरण उन्होंने दिया है। इसी तरह मध्य प्रदेश के एक मित्र बताते हैं कि अब तो वहाँ जिले बिकने लगे हैं। पत्रकार जिले खरीद लेते हैं। उस जिले के समाचार देते हैं और मनमाने समाचार से अखबार रंग देते हैं। सच और झूठ में भेदभाव नहीं करते। कुछ अखबार तो ऐसे हैं जो संवाददाताओं और स्त्रीगणों को वेतन भी नहीं देते हैं, अलबत्ता फोटो सहित पहचान पत्र का कार्ड अवश्य देते हैं। अब इस कार्ड से वे संवाददाता या स्त्रीगण जितना चाहें कमा लें।

अभी पिछले दिनों एक अखबार ने टाइम्स ऑफ इण्डिया के भ्रष्टाचार का पर्दाफाश किया। वह अखबार था बिजनेस स्टैंडर्ड। इस अखबार ने जो खबर प्रकाशित की उसके अनुसार टाइम्स ऑफ इण्डिया ने भ्रष्टाचार का नया तरीका निकाला। इसने मीडिया नेट नामक एक वेबसाइट बनाई। इस भ्रष्टाचार को समझने से पहले यह समझ लेना जरूरी है कि छपे हुए समाचार और उसी आकार के छपे हुए विज्ञापन में विश्वसनीयता का अनुपात 1:11 का है। अर्थात् छपे हुए समाचार छपे हुए विज्ञापन की अपेक्षा 11 गुणा ज्यादा विश्वसनीय हैं। चूँकि विज्ञापन अपनी शक्ति-सूरत से ही विज्ञापन नजर आता है तो उस पर लोग कम भरोसा करते हैं। तो इस प्रकार टाइम्स ऑफ इण्डिया की वेबसाइट में छपने के लिए कोई भी समाचार अपलोड कर सकता है। यह समाचार असल में समाचार नहीं विज्ञापन होता है। तो जिस किसी को भी अपना विज्ञापन समाचार की सूरत में छपवाना है वह विज्ञापन की दर से रकम जमा करके मनचाहा समाचार वेबसाइट पर अपलोड कर सकता है। पत्रकारों को छूट है कि वे मीडिया नेट के से सामग्री लेकर समाचार के रूप में छाप सकें। हम सब जानते हैं कि मीडिया में दो तरह के स्थान होते हैं। एक विज्ञापन का और एक समाचार का। विज्ञापन की कीमत पर समाचारों के स्थान पर समाचार के रूप में विज्ञापन का प्रकाशन करने से विज्ञापन राजस्व में भारी बढ़ोत्तरी होती है। यह पहले ही बता दिया गया है कि समाचार का स्थान पवित्र होता है। उसकी विश्वसनीयता अधिक होती है। कोई चीज यदि सीधे विज्ञापन के रूप में छपे तो विश्वसनीयता नगण्य होती है। बिजनेस स्टैंडर्ड के रहस्योद्घाटन के बाद टाइम्स ऑफ इण्डिया ने इसके लिए स्पष्टीकरण दिया और यह तर्क दिया कि पत्रकारों के भ्रष्टाचार को रोकने के लिए यह तरीका अपनाया गया था। यह बात, हो सकता है कि आंशिक रूप से सच हो। लेकिन यह इस बात को अवश्य रेखांकित करती है कि पत्रकारिता के क्षेत्र में भ्रष्टाचार फल फूल रहा है।

एक घटना का विवरण देने का लोभ का संवरण मैं नहीं कर पा रहा हूँ। उन दिनों मैं पटना में नवभारत टाइम्स के पटना संस्करण का स्थानीय सम्पादक था। एक दिन अपने ही अखबार का पहला पन्ना खोला खबर थी कि सर्कस के हाथी ने बहुत से बच्चों को कुचल दिया। पहले मैं तर्क-वितर्क करने लगाबहुत से बच्चों को कुचल

दिया गया, क्या मतलब है! संख्या दी जा सकती है। बच्चे कुचल गए हैं, गम्भीर मामला है। मैंने संवाददाता को फोन लगाकर पूछा। उसने कहा “यह सरासर गलत खबर है और इसे मैंने नहीं भेजी। यह कैसे छप गई? जब 11.30 बजे रात को मैं संस्करण छोड़ने के बाद घर आया, तब तक यह समाचार नहीं था।” मैं दफ्तर पहुँचा मालूम किया। असल में हमारे अखबार और एक समाचार एजेंसी का नाम कोड मिलता जुलता था। उस एजेंसी से सम्बन्धित एक पत्रकार महोदय ने यह खबर भेजी और गलती से हमारे पते पर आ गई और छप गई। मेरे संवाददाता की पिटाई होते-होते बची। हमारी गाड़ी को घेरकर लोग खड़े थे। दफ्तर पहुँच कर मैंने एक पूर्व प्रशासनिक अधिकारी जो हमारे संवाददाता भी थे, को वहाँ भेजा। वे सबसे पहले टेलीप्रिंटर ऑफिस गए। वहाँ पूछताछ की। क्या खबर उसके यहाँ से छपी थी, यह पूछने पर उसने जवाब दिया। क्या यह घटना सच है? यह पूछने पर जवाब मिलानहीं। आगे जवाब मिला कि संवाददाता ने उससे कहा कि मेरा काम है खबर भेजना और तुम्हारा काम है समाचार छापना, तुम अपना काम करो। फिर वे सर्कस के मालिक के पास पहुँचे। उसने बताया कि सर्कस चालू होने के पहले ही कुछ पत्रकार एजेंसी के लिए विज्ञापन की माँग करने पहुँचे थे। मालिक ने जवाब दिया था कि सर्कस का धंधा बहुत मंदा है, हम विज्ञापन नहीं दे सकेंगे। इसके बाद संवाददाता महोदय हर दिन 15-20 लोगों को मुफ्त सर्कस दिखाने का चिट भेज दिया करते थे। मालिक ने कुछ दिन निभाया फिर बन्द कर दिया और तब हाथी पागल हो गया, बच्चे कुचले गए। हमने उसी दिन सारी रिपोर्ट लिखी और कहा “हाथी नहीं पत्रकार पागल हुआ।”

मैंने पटना के राज्य इकाई के पत्रकार यूनियन के सचिव बी.एन.झा. को कहा कि इसे तत्काल प्रभावी रूप से सदस्यता से निलंबित कीजिए। निलंबित उन्होंने कर दिया। लेकिन ब्लैक मेलिंग का धंधा उसने बन्द नहीं किया।

कुछ पत्रकार तो इतने प्रभावी होते थे कि अपने लिए गार्ड तैनात करा लेते थे। गार्ड उनका घरेलू नौकर भी था, बच्चों को स्कूल भी पहुँचाता था, दुकान पर भी बैठता था और उसके साथ मोटर साइकिल पर डंडा लेकर तैनात भी रहता था। अर्थात् यह चौथा स्तंभ भी ऊपर से लेकर नीचे तक कम भ्रष्ट नहीं था और न है।

पत्रकारिता और चैनल के नाम पर जो कुछ छपता है या दिखाया जाता है, वह भी पतनोन्मुखी ज्यादा है। समाज में उत्कर्ष के लक्षण कम दिखाता है और अपकर्ष के ज्यादा। मीडिया महिलाओं का जैसा चित्रण करता है, वह उसके विनोदिनी स्वरूप के लिए प्रेरित करता है। पुरुष समाज को भी और स्त्री समाज को भी। चाहे आप कोई भी चैनल देख लीजिए या कोई भी अखबार उठा लीजिए। वह स्त्री मात्र को विनोदिनी बना देने पर उतारू लगता है। मीडिया में एक दौर तो ऐसा आया जब

बाकायदा अंग प्रदर्शन पर शास्त्रार्थ चलता रहा। किसी पत्रकार के हथ्ये कोई अभिनेत्री, फैंसी, तत्काल उसने सवाल दागाअंग प्रदर्शन के बारे में आपका क्या ख्याल है? पाठकों के ज्ञान चक्षु खुलते गए। अंग प्रदर्शन के तमाशबीनों की संख्या बढ़ती गई। अधिकाधिक नायिकाएँ इस बहस को बढ़ाती गईं। मुझे याद है, जब ऐसी ही चर्चा रेप सीन के बारे में चलती थी। रेप के लिए ऐसा प्रोत्साहक वातावरण बनता गया कि रेप सीन देना कला के उत्कर्ष का पर्याय बन गया। अभी पिछले साल तक 'सेक्सी' शब्द के साथ यही हुआ। जब स्त्री और पुरुषों ने सेक्सी होना बन्द कर दिया तब कॉलर, कलम, कार, सिगरेट, शराब और पर्स वगैरह भी सेक्सी होने लगे। अन्त में एक बार झल्ला कर मैंने लिखा "कि एक दिन ऐसा आएगा जब सेक्स में से सेक्स गायब हो जाएगा।" और कई समाजों में गायब होने लगा है। एक दौर ऐसा भी आया बल्कि चल रहा है कि जब सरकारी अस्पतालों और पोस्ट ऑफिसों में संदेश लिखे होते थे "घर से निकलते समय कंडोम लेना नहीं भूलें।" कई बार मुझे लगता था कि सरकार और मीडिया का यह लक्ष्य है कि वह महिला मात्र को विनोदिनी और भोग्या बनाने के दस वर्षीय कार्यक्रम को लेकर चल रहे हैं। अभी पिछले महीने एक लब्ध प्रतिष्ठित साप्ताहिक ने सेक्स से सम्बन्धित दो सर्वेक्षण अध्ययन कराए और एक सप्ताह के अन्तर से प्रकाशित कर दिए और मुझे नहीं मालूम कि किसी सम्भ्रान्त घराने में उस पत्रिका का प्रवेश वर्जित हुआ या नहीं। एक का विषय था फंतासी और दूसरे का फंतासी क्षेत्र में सफलता अर्जित करने के नुस्खे। जब ऐसे-ऐसे सवाल पूछे जाएँ कि "विवाह के पहले आपने कितनी बार सेक्स का अनुभव प्राप्त किया? एक प्रतिष्ठित दैनिक अखबार हफ्ते में दो-तीन बार सेक्स पार्टनर की उपलब्धि विषयक जिज्ञासाओं के बारे में छापता है, और जरा शीर्षक देखिए 'मोक्ष', टेंपटेशन, निर्वाण। संसार के सभी देशों और देश की विभिन्न राज्य नायिकाओं की उपलब्धि के सांगोपांग वर्णन के विज्ञापन छापते हैं। और यह ध्यान रखिए कि आज भी कम से कम 50 प्रतिशत माताएँ आदर्श चरित्रों में गिनी जा सकती हैं। मगर वह चैनल में नहीं दिखतीं। कथा साहित्य में नहीं दिखतीं, फिल्मों में नहीं दिखतीं। और उसके उल्टे उदाहरण ज्यादातर मनगढंत किसी-न-किसी बहाने दिखाने का लोभ संवरण शायद ही कुछ लोग करते हों। जहाँ तक नृत्य और आइटम गर्ल का सवाल है, फिल्म जगत कल्पना की ऊँची-से-ऊँची उड़ान इसी क्षेत्र में लेता है। मीडिया में नारी का ऐसा ही सशक्तिकरण चलता रहा तो घर क्लेश का रणांगन बन जाएँगे। ऐसा लगता है, जैसे हमारा समाज ढलान पर लुढ़क रहा हो और लापरवाह मीडिया ने इसकी रफ्तार दुगुनी कर दी हो, ताकि रसातल शीघ्र पहुँचा जा सके।

## मीडिया : मिथक और मूल्य

देवेन्द्र इस्सर\*

*"मीडिया शब्द, दृश्य और अर्थ को भग्न करके उन्हें पुनर्निर्मित करता है ताकि इच्छित प्रभाव उत्पन्न किया जा सके। मीडिया हमारे और अपक्व यथार्थ के बीच मध्यस्थता करता है। और यह मध्यस्थता हमारे लिए यथार्थ को अधिक-से-अधिक अपदस्थ करती है। इस पुनर्रचना की प्रक्रिया में मीडिया अनुमानों, परिकल्पों एवं संभाव्य दृश्यों के द्वारा दर्शकों को विशेष विचारों के स्वीकार के लिए उत्प्रेरित करता है। इस प्रकार वह समाज और व्यवस्था में हस्तक्षेप करता है तथा उत्प्रेरणा की प्रक्रिया को उत्साहित करता है।"*

*ज्यां बोद्रिया*

एक जमाना था, अखबार ही हमें देश-विदेश की खबरें उपलब्ध कराते थे। करीब अर्ध सहस्राब्दी से हमारा मानस प्रिंट मीडिया के माहौल में ही परवरिश पा रहा था। बीसवीं सदी में हम इलेक्ट्रॉनिक युग में प्रवेश कर गए। पहले रेडियो और फिर ट्रांजिस्टर ने दुनिया के दूरदराज क्षेत्रों में सीमाओं के आरपार खबरों को पहुँचाना शुरू कर दिया। टेलीविजन ने शब्दों को सुनाने और दृश्यों को दिखाने के साथ-साथ खबरों को 'बनते' और 'होते हुए' भी प्रस्तुत करना शुरू कर दिया। यह ऐसा रंगमंच बन गया जो यथार्थ को मिथ में और मिथ को यथार्थ में बदल देता है। परेशान लोगों ने इसे 'बुद्ध बक्सा' कहा, लेकिन विचारशील लोग सोच में पड़ गए। और कुछ लोग भविष्य के आघात से आतंकित नई तकनीकियों (टेक्नोलॉजी) पर ही प्रहार करने लगे। वे भविष्य के आघात से तो बच गए लेकिन किसे मालूम था कि 'तीसरी लहर' अपने साथ एक ऐसी प्रौद्योगिकी लाएगी कि इस संसार में बसते हुए भी हम साइबर स्पेस के सिंदवाद बन जाएँगे और 'वेबल की मीनार' इंटरनेट के कोलाहल का रूप ले लेगी। सूचना प्रौद्योगिकी का नया युग ही नहीं, नया सूचना युद्ध भी शुरू हो जाएगा। संसार-भर में सूचना-अस्त्रों से लैस सूचना सैनिकों का वर्चस्व स्थापित हो जाएगा।

\* देवेन्द्र इस्सर, सम्पर्क बी-3/153, जनकपुरी, नई दिल्ली 110058

शक्ति के नए समीकरण, समन्वय एवं संतुलन स्थापित हो जाएँगे। देखते ही देखते सूचना विस्फोट, सूचना क्रान्ति और सूचना सुपर हाइवे 'वग' शब्द बन जाएँगे और संसार के देश और इन देशों के भीतर लोग सूचनासंपन्न तथा सूचनाविपन्न वर्गों में विभाजित हो जाएँगे। जो लोग और देश परिवर्तन की प्रक्रिया, प्रकृति, गति और दिशा को समझने में सक्षम नहीं होंगे, यह नई लहर उन्हें तिनके की तरह बहा ले जाएगी। वे इतिहास का भूला-बिसरा 'समाचार' बनकर रह जाएँगे।

लेकिन कहीं कोई हादसा हो गया। न केवल सूचना संग्रहण तथा सूचना प्रसारण से लेकर अर्थबोध तक की प्रत्येक प्रक्रिया पर ही सवालिया निशान लग गया बल्कि हमें नैतिक मूल्यों एवं सामाजिक उत्तरादायित्व के प्रश्न पर भी नए सिरे से सोचने पर विवश कर दिया। आखिर यह 'सच्ची' खबर किसके पास है।

हम बड़े नाजुक दौर से गुजर रहे हैं। एक ओर हम मीडिया से समाचारों की वस्तुपरकता तथा प्रामाणिकता की माँग करते हैं तो दूसरी ओर नैतिकता तथा उत्तरदायित्व की अपेक्षा भी करते हैं। कई बार ऐसा होता है कि एक तरफ सत्यता तथा वस्तुपरकता और दूसरी तरफ मूल्य और नैतिकता आमने-सामने विपरीत पंक्तियों में खड़े नजर आते हैं। समस्या उस समय और भी गम्भीर हो जाती है जब मूल्यों में ही संघर्ष शुरू हो जाता है। क्या कोई परम मूल्य होते हैं? यदि मूल्य-सापेक्ष होते हैं तो किस स्थिति में किस मूल्य को प्राथमिकता दी जाए? इसका निर्णय कैसे होगा और कौन करेगा? एक ओर अगर मीडिया अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता की आवाज उठाता है तो दूसरी ओर धार्मिक, जातीय तथा जेंडर संवेदनशीलता के आहत होने पर प्रतिबंध का नारा बुलन्द किया जाता है। यदि कुछ लोग राष्ट्र की सुरक्षा के लिए आतंकवाद पर अंकुश को उचित ठहराते हैं तो अन्य न केवल मानवाधिकारों के हनन की निन्दा करते हैं बल्कि राष्ट्र को कृत्रिम संरचना और राष्ट्रीयता को उद्धृत राष्ट्रवाद या 'जिंगोइज्म' की संज्ञा देते हैं। आतंकवाद और स्वतन्त्रता संग्राम गड्डमड्ड हो जाते हैं।

इन प्रश्नों का कोई एक सीधा या अन्तिम उत्तर नहीं है। ये ऐसे प्रश्न हैं जिनका सामना आज संसार के विभिन्न राज्यों, राष्ट्रों तथा समाजों को करना पड़ रहा है। ये ऐसे सामाजिक नैतिक दुविधाएँ हैं जो मीडिया की आचारसंहिता तक ही सीमित नहीं, बल्कि इस तथ्य को भी रेखांकित करते हैं कि मीडिया को हर क्षण आजमाइश के दौर से गुजरना पड़ता है। यह आलेख इन प्रश्नों के परिप्रेक्ष्य में मीडिया के रू-ब-रू होता है। एक बात और! इस आलेख में भारत में मीडिया को उदाहरण देने से परहेज किया गया है। क्योंकि खतरा यह है, और जैसा कि प्रायः होता है, कि बहस मूल प्रश्नों से हटकर उदाहरणों पर केन्द्रित हो जाएगी। लेकिन जो हवाले दिए गए हैं उनसे भारत के मीडिया को बखूबी समझा जा सकता है।

## मीडिया : मध्यस्तता और हस्तक्षेप

*"टेलीविजन राजनीतिक रंगमंच पर अभिनेता है। यह केवल सूचनाएँ ही उपलब्ध नहीं कराता और मनोरंजन ही नहीं करता अपितु बोध के पैकेजेज भी प्रस्तुत करता है।"*  
डेनियल हिलन

आज दुनिया बड़ी तीव्र गति से बदल रही है। लिहाजा प्रश्न यह है कि क्या मीडिया इन परिवर्तनों से साक्षात्कार के लिए सूचना और सोच के नए सन्दर्भों और अर्थों के अन्वेषण के लिए तैयार है। आज हर घटना से पर्दा उठ रहा है। हर चेहरे का नकाब उलट रहा है। लेकिन मीडिया के विस्तार और प्रति क्षण प्रसार ने न जाने कितने लोगों को चमकीला रूप प्रदान कर दिया है कि विदूषक भी विदुषी दिखाई देने लगे हैं। प्रसिद्धि का उत्सव मनाया जाता है। राजनीतिज्ञ छद्म घटनाओं की रचना करते हैं और पब्लिक बुद्धिजीवी उनकी छवियों की। जैसे-तैसे मीडिया में 'संवाद' बढ़ता जा रहा है, वैसे-जैसे विवाद और शब्द-शस्त्रों का प्रचलन भी बढ़ता जा रहा है। मीडिया इसे दर्शकों और राजनेताओं में मध्यस्थता का नाम देता है जबकि इसका प्रभाव राजनीतिक हस्तक्षेप के रूप में प्रकट होता है। पर्दे के छाया-युद्ध की परछाइयाँ जमीन पर विकृत आकृतियाँ बनकर फैलने लगती हैं। हिंसा के दृश्यों का जादुई आकर्षण होता है। समाज में जारी हिंसा पर्दे में और पर्दे में प्रदर्शित हिंसा समाज में प्रवेश करने लगती है।

## वस्तुपरकता : वास्तविकता या विभ्रान्ति

*"जिसे सोच कहा जाता है वह प्रायः हमारे विद्वेषों का पुनर्नियोजन मात्र होती है।"*  
एडवर्ड आर मर्री

यह बात बार-बार दुहराई जाती है कि मीडिया तो मात्र दर्पण है जो वह समाज को दिखाता है। समाज में जो घटित हो रहा है वह उसको ही प्रतिबिंबित करता है। अतः समाज में जो कुछ हो रहा है उसके लिए मीडिया को दोष देना सही नहीं-संदेशवाहक को गोली मत मारो।' लेकिन वह इस बात से साफ बच निकलता है कि वह किसका संदेशवाहक है और कौन-सा संदेश लाया है। लोकतन्त्र में एक ही समय में कितने संदेश उपस्थित होते हैं। और एक ही घटना कितने संदेश देती है। मीडिया इनमें से कुछ संदेशों का चयन करता है और उसको नये पैक में करके प्रस्तुत करता है। समाचार एक संरचना है जो घटना को 'अति सक्रिय' वर्णन में बदल देती है। यानी यह वर्णन घटना का 'दर्शन' बन जाता है। मीडिया प्रहरी की भूमिका एक दरबान की-सी है, जिसको यह अधिकार है कि किसको भीतर जाने दिया जाए और किसको



रोक दिया जाए। प्रश्न यह उठाया जाता है कि क्या यह 'विवेक' निहितार्थी तथा विचारधारा से मुक्त है जो चेतन या अवचेतन रूप से चयन-प्रक्रिया तथा पुनर्संरचना में सक्रिय रहता है? क्या मीडिया की कोई नीति (राजनीति) नहीं होती?

मीडिया की एक भूमिका जनमत को निर्मित करना भी है। क्या नीति निर्धारण, जनमत निर्मित तथा समाचार प्रसारण में वस्तुपरकता सम्भव है? मीडिया की विश्वसनीयता के लिए वस्तुपरकता उसका निर्णायक प्रतिमान है। वस्तुपरकता को खतरा समाचार प्रसारण में अविलम्ब शीघ्रता के कारण है, कुछ ऐसी परिस्थितियाँ भी होती हैं जैसा कि दंगे-फसाद और युद्ध, जिनमें त्वरता एवं आवेग विस्फोटक भी सिद्ध हो सकता है। मीडिया में इस समय बड़ी तीव्र प्रतिस्पर्द्धा है। कौन सबसे पहले खबर देता है। किसके पास 'अनूठी खबर' है। किस 'लीक' को खबर के तौर पर प्रस्तुत किया जाए। किसे 'सुर्खी' बनाकर पेश किया जाए। अनुमानित और परिकल्पित प्रश्न पूछे जाते हैं। अफवाहों का बाजार गरम हो जाता है। जाली घटनाएँ सच्ची खबरें बन जाती हैं।

संसार-भर में मीडिया अनुसंधान प्रायः इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि वस्तुपरकता यदि पूर्णतया विभ्रम नहीं तो वह वास्तविकता भी नहीं है। ज्यादा-से-ज्यादा वह सम्भावना ही रहेगी। और दिलचस्प बात यह है कि अमेरिकन सोसायटी ऑफ प्रोफेशनल जर्नलिस्ट्स ने 1996 में अपनी आचारसंहिता में वस्तुपरकता का उल्लेख तक नहीं किया जबकि 1987 में पेशेवर कार्यशीलता के प्रतिमान के रूप में इसे महत्वपूर्ण स्वीकार किया गया था। वर्ष 1996 में 'शिकागो ट्रिब्यून' के प्रकाशक जैक फुलर ने अपनी पुस्तक 'न्यूज वैल्यू : आइडियाज फॉर एन इंफार्मेशन एज' में कह दिया था "करीब-करीब अब कोई भी वस्तुपरकता के बारे में बात नहीं करता।"

## खबर रंग देना, खबर में रंग भरना

मीडिया कई प्रकार की कार्यप्रणालियों द्वारा जनमत को शिक्षित करने के बजाए उसे व्यवस्थित, अनुकूलित, विकृत और विशेष विचारों तथा नीतियों की ओर प्रवृत्त करने का प्रयत्न करता है। विलियम मैकगोवन ने अपनी पुस्तक 'कलरिंग दि न्यूज : हाउ क्रूसेडिंग फॉर डाइवर्टिड हैज अमेरिकन जर्नलिज्म' (2001) में इस प्रवृत्ति का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि कैसी मीडिया नस्ल, नस्लवाद (और मजहब) की विविधता के विवादास्पद विषयों के बारे में समाचार संरचना और संप्रेषण करता है समाचारों की यह गहन संरचनाएँ विभिन्नता प्रजनित विद्वेषों को सुदृढ़ करती हैं। मैकगोवन ने समाचार संग्रहण और उत्पादन प्रक्रिया से लेकर रोजमर्रा की रिपोर्टिंग और सम्पादन तथा पुनर्लेखन द्वारा विशिष्ट सम्मान की ओर प्रवृत्त करने की प्रक्रिया का विश्लेषण किया है। उसके विचार में 'विविधता नैतिकता' पाठकों/दर्शकों की

वाणी को एकरूप ही नहीं बनाती बल्कि विवेकशील तर्कों की कार्यक्षमता को कुंठित भी करती है। उसने प्रश्न किया है कि क्या एक बढ़ते हुए बहुलतावादी विभाजित समाज में सामान्य जन को कोई कैसे परिभाषित कर सकता है और यह निर्णय ले सकता है कि उनके लिए क्या हितकर है।

मैं यहाँ अस्मिता की राजनीति पर बहस नहीं करना चाहता लेकिन इतना कह देना जरूरी समझता हूँ कि इस प्रकार का प्रचार-प्रसार मतदाता मॉडल तथा आरक्षण नीति पर अवलम्बित है। मैकगोवन ने वर्मेंट में 'बर्लिंगटन फ्री प्रेस' का उल्लेख करते हुए लिखा है कि इसके सम्पादक ने यह निर्देश जारी कर रखा है कि प्रकाशित फोटो आकृतियों में हर छह चेहरों में एक चेहरा अल्पसंख्यक का होना चाहिए। कम-से-कम प्रत्येक चार कॉलमों में से एक कॉलम अल्पसंख्यकों के विविधता से सम्बन्धित होना चाहिए। मीडिया किस प्रकार प्रचार मुहिम चलाता है इसकी तफसीलात बहुत अधिक है और दास्तान बहुत लम्बी है। यहाँ दो पुस्तकों का जिक्र ही काफी है 'दि पॉलिटिक्स ऑफ न्यूज ऐंड दि न्यूज ऑफ पॉलिटिक्स', सम्पादक डोरिस ग्रेवे और अन्य (1998) तथा 'बायस : ए.सी.बी.एस. इनसाइडर एक्सपोजिस हाउ मीडिया डिस्टर्ट दि न्यूज' (2001)। प्रायः मीडिया विज्ञापन, जनसम्पर्क तथा मनोरंजन एक ही समग्र के अंग होते हैं। अतः इनमें अन्तर धूमिल होता जाता है। कन्वर्जंस टेक्नोलॉजी और व्यावसायिक हितों के एकीकरण की प्रक्रिया तीव्रतर होती जा रही है जो वस्तुपरकता को करीब-करीब असम्भव बना देती है।

## नैतिकता, मूल्य और सामाजिक उत्तरदायित्व

नैतिकता, मूल्य तथा सामाजिक उत्तरदायित्व के प्रश्न मीडिया और दर्शकों/पाठकों के बीच संप्रेषण की समस्या को और अधिक जटिल बना देते हैं, क्योंकि वस्तुपरकता तथा इनमें जब असंगति उत्पन्न हो जाती है तो प्रश्न उठता है कि किसको किस पर तरजीह दी जाए। मीडिया वस्तुपरकता का पक्षधर है और यही उसका मूल्य है। और फिर उसका यह भी तर्क है कि वह 'समाचार' का फैसला करता है न कि नैतिकता का। लेकिन प्रश्न यह है कि क्या मानवीय सरोकारों तथा नागरिक समाज की सुरक्षा को नजरअंदाज करके वस्तुपरकता की प्राथमिकता स्थापित रह सकती है? क्या कोई ऐसा समाचार सम्भव है जिसका कोई नैतिक आधार न हो? वह कौन-सी प्रविधि है जिसके द्वारा तथ्यों को मूल्यों से अलग करके देखा जा सकता है? प्रत्येक तथ्य तथा समाचार पर मूल्य का अतिरिक्त दबाव होता है और प्रत्येक तथ्य को मूल्य के सन्दर्भ में परखा जाता है। मीडिया मूल्यों के पक्षधर सरलीकृत सच्चाई के सिद्धान्तों को अस्वीकार करते हैं। उनकी दृष्टि में तथ्य और मूल्य गहरे तौर पर परस्पर संपृक्त हैं। मीडिया कैसे एक साथ तथ्यों के वस्तुपरक प्रसारण और विवेक के संरक्षण का दावा



बगैर मूल्यचेतना के कर सकता है? जब मीडिया यह दावा करता है कि वह जनमत निर्माता है तो क्या जनमत का निर्माण मूल्यनिरपेक्ष होता है?

व्यावहारिक तौर पर तथ्यों के चयन से लेकर प्रसारण तक मीडिया कई प्रकार के मूल्यों का समावेश करता है, जिनमें व्यवसायगत मूल्य, नैतिक मूल्य, सामाजिक/सांस्कृतिक मूल्य, विधि-सम्बन्धी मूल्य तथा सौन्दर्य बोधपरक मूल्य शामिल हैं। कई बार मूल्यों में टकराव की स्थिति भी उत्पन्न होती है। मूल्यों के संघर्ष में समाचार प्रस्तुति, विशेष रूप से जब प्रश्न त्वरित प्रसारण का हो, की समस्या और भी जटिल हो जाती है। यदि समाचार संदिग्ध हो सकते हैं तो मूल्य भी मासूम नहीं होते। एक विभाजित समाज में मूल्यों पर सहमति सम्भव नहीं। कई रेडिकल समाजशास्त्री और लिबरल बुद्धिजीवी तो मूल्यों पर आग्रह को राजनीतिक षड्यन्त्र मानते हैं। उनकी दृष्टि में कोई शाश्वत, अनादि, अनन्त, अन्तिम और परम मूल्य नहीं। मीडिया के सन्दर्भ में नैतिकता, मूल्यों और सामाजिक उत्तरदायित्व पर बहस भ्रम उत्पन्न करती है। क्लिफर्ड क्रिश्चियंस और अन्य ने 'मीडिया : एथिक्स एंड मॉरल रीजनिंग' में इस रवैये की कड़ी आलोचना करते हुए कहा है कि जब नैतिक मूल्यों के बगैर किसी नागरिक समाज की कल्पना नहीं की जा सकती तो मीडिया कैसे मूल्य निरपेक्ष हो सकता है।

लेकिन मीडिया के लिए सबसे अहम मूल्य सत्य है। प्रश्न यह है कि सत्य का साक्षी कौन है? जब पोटियस पायलट ने यह प्रश्न किया कि सच क्या है तो किसी के पास इसका उत्तर नहीं था। लेकिन मीडिया का मानक शास्त्र है कि वह जो भी प्रसारित करता है वह सच है या वह सच पर आधारित है। मीडिया की जो भी आचारसंहिता बनती है उसमें सच के प्रसारण का उल्लेख किया जाता है। जैसे-जैसे हमारे ज्ञान का विस्तार होता जा रहा है सच की परतें खुलती जा रही हैं और इसका स्वरूप बदलता जा रहा है। सच के सामान्य 'केवल तथ्य' की धारणा से इतर कई प्रश्न किए जाने लगे हैं, जिनमें मूल्यों और सामाजिक उत्तरदायित्व के प्रश्न भी शामिल हैं। कई विचारक जो उत्तर-आधुनिकता के अनुयायी हैं, वे सच को भी एक कृत्रिम संरचना स्वीकार करते हैं। वैसे भी सच यह है कि कोई सच अन्तिम, सम्पूर्ण, स्थायी तथा संशयरहित नहीं। इस सन्दर्भ में अकृतागाव की कहानी और उस पर बनी अकीरा कुरोसोवा की फिल्म 'राशोमन' की याद आती है, जो इस बात को रेखांकित करती है कि सच्चाई का बोध किस प्रकार बदला जाता है। जब वस्तुपरकता सम्भव नहीं और सच संदिग्ध है तो अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता पर भी नए सिरे से विचार अनिवार्य है।

### अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता और सिविल समाज

संसर्गशिप मीडिया में ही नहीं, एक सभ्य समाज में आपत्तिजनक शब्द है। न सिर्फ राज्य द्वारा बल्कि किसी भी समूह द्वारा विचारों की अभिव्यक्ति पर पाबंदी

लोकतान्त्रिक मूल्यों और मानवाधिकारों की अवहेलना है। अवरोध और असहमति के स्वर को किसी भी सभ्य समाज में अस्वीकार नहीं किया जा सकता। क्योंकि राज्य तन्त्र को प्रायः दमन यन्त्र समझा जाता है इसलिए मीडिया अपनी प्रतिरोधी भूमिका पर बहुत बल देता है। अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता मात्र मानवीय भावना ही नहीं, अपितु नैतिक मूल्य भी है। इस पर किसी प्रकार का प्रहार या प्रतिबंध मूल मानवीय आकांक्षाओं और मूल्यों का दमन है। अतः अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता की सुरक्षा में यदि मीडिया या समाज असफल रहेगा तो प्रजातन्त्र का अंत होगा। प्रजातन्त्र की यह विडंबना है कि अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता के बगैर प्रजातन्त्र की कल्पना भी नहीं की जा सकती। लेकिन इसी अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का प्रयोग करके प्रजातन्त्र पर प्रहार किया जाता है। ऐसी शक्तियाँ प्रायः मीडिया के समर्थन प्राप्त करने में सफल हो जाती हैं।

मीडिया द्वारा प्रचार उनके लिए शक्तिवर्धक औषधि का काम करता है। ऐसे कई अनुसंधान हुए हैं जो यह सिद्ध करते हैं कि आतंकवाद के लिए जितने मारक अस्त्र-शस्त्र आवश्यक हैं उतना जरूरी मीडिया की सहायता प्रणाली, 'सपोर्ट सिस्टम' भी है। यह आवश्यक नहीं कि मीडिया ऐसा सोच-विचार करके करता हो। लेकिन निष्पक्षता, अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा राज्य की दमनकारी शक्ति के विरोध में वह ऐसा करता है। लेकिन इसका अंजाम क्या होगा इस पर विचार करना आवश्यक है। जो बात तानाशाही के सन्दर्भ में कही गई है, इस संदर्भ में भी सही है कि सर्वसत्तावाद में विश्वास रखने वाले लोकतन्त्र में अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता की माँग लोकतन्त्र के मूल्यों के आधार पर करते हैं। लेकिन अपने बंद समाज में इसका दमन अपने विश्वासों के आधार पर करते हैं। अतः मीडिया को अपनी भूमिका की निरन्तर समीक्षा करते रहना आवश्यक है। यह प्रश्न इतना राजनीतिक नहीं जितना मूल्यपरक है। इसी कारण दुनिया-भर में मूल्यों और सामाजिक उत्तरदायित्वों पर विचार-विमर्श जारी है। यह भी सत्य है कि जिन विचारों को समाज के लिए हानिकारक या विघटनकारी समझा गया वही नए विकसित सिविल समाज की आधारशिला भी सिद्ध हुए हैं। जबकि यथास्थितिवादी या एकाधिकारवादी सदैव ऐसे विचारों को दबाने का प्रयत्न करते रहे हैं। यहाँ न्यूयार्क स्टेट एजुकेशन कमीशन की हाल ही की एक रिपोर्ट का उल्लेख प्रासंगिक होगा। कमीशन ने 'संवेदना समीक्षा निर्देशिका' में नस्ल, धर्म, एथनिस्टी, नग्नता आदि यहाँ तक कि बहुत ही सामान्य अभद्रता के सन्दर्भों में पब्लिक बोर्ड स्कूलों के छात्रों के लिए विख्यात लेखकों की पुस्तकों से 'संवेदनशील' विवरणों को खारिज करने की सिफारिश की है। यहाँ सिर्फ यही कहा जा सकता है कि अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा सामाजिक उत्तरदायित्व की द्विविधा को नजरअंदाज

नहीं किया जा सकता।

## सामाजिक उत्तरदायित्व की दुविधा

जिस प्रकार मीडिया सत्ता, समाज और सियासत पर टिप्पणी या आलोचना करने के लिए स्वतन्त्र है, उसी प्रकार समाज के अन्य समूह मीडिया की आलोचना के लिए स्वतन्त्र हैं। मीडिया यह आलोचना अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता के नाम पर करता है लेकिन जब उसकी आलोचना की जाती है तो वह इसे अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता पर प्रहार समझता है। मीडिया को अत्यधिक संवेदनशील होने की जरूरत नहीं। विशेष रूप से जब मीडिया समाचार के क्षेत्र तक सीमित न रहकर विचारों के प्रचार के क्षेत्र में भी प्रवेश कर चुका है तो यह और भी अधिक जरूरी है कि समाज में व्याप्त व्यापक विमर्श यदि वह खुला मंच नहीं तो वह खुले समाज में नागरिक की स्वतन्त्रता से अपने को अलग करके विशेषाधिकारों का दावा नहीं कर सकता। यदि उसकी भूमिका वाचडाग की है तो वह स्वयं इस दायरे से बाहर कैसे रह सकता है। यदि मीडिया को अपनी वस्तुपरकता पर गर्व है तो मीडिया के आलोचक भी उसकी 'भीतरी परीक्षण' की निशानदेही का अधिकार रखते हैं। सबसे अहम बात यह है कि मीडिया ही समाचारों का स्रोत या प्रसार-माध्यम नहीं। प्रत्येक समाज में संप्रेषण के वैयक्तिक तथा सामूहिक कई प्रकार के तंत्र होते हैं जिनकी भूमिका को नजरअंदाज करने का अभिप्राय लोकतन्त्र को 'व्यवस्थित' तथा सीमित करना होगा।

युद्ध, हिंसा, आतंकवाद, पोर्नोग्राफी कितने ही क्षेत्र हैं, जिनका सम्बन्ध मीडिया तथा अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता तक ही सीमित नहीं बल्कि, समस्त समाज, समाज के विभिन्न समूहों और व्यक्तियों की अंतरंगता तथा गरिमा से संपृक्त है। जब 'समाचार' और 'सभ्याचार' में संघर्ष होगा तो इसमें कौन कैसा हस्तक्षेप करता है या कर सकता है, इस पर निरन्तर गम्भीर विचार-विनिमय की आवश्यकता है। साँझे मूल्यों के विमर्श के अभाव में न केवल समाज ही विभाजित होता है अपितु मीडिया की भूमिका भी संदिग्ध होती जाती है। अतः महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि सामाजिक तौर पर जिम्मेवार निर्णय या व्यवहार क्या इन मूल्यों से निसृत होते हैं या इनकी अवहेलना करते हैं।

तथ्य हो या मूल्य कोई एक समूह या मीडिया इनका कोई सम्पूर्ण स्थायी या अन्तिम समाधान प्रस्तुत नहीं कर सकता। इसका एक कारण यह भी है कि मीडिया को स्थापित मूल्यों को चुनौती भी देनी पड़ती है और इस प्रकार वह परिवर्तन के अभिकर्ता की भूमिका अदा करता है और उसे कुछ स्थापित मूल्यों की सुरक्षा भी करनी पड़ती है या उनको वैधता प्रदान करनी पड़ती है। इस निर्णय की प्रक्रिया में मीडिया तथा समाज के अन्य समूहों में संघर्ष एवं विमर्श की स्थिति निरन्तर बनी रहती है। इसलिए भी कि सामाजिक अस्तित्व तथा वैयक्तिक एवं समूहगत अस्मिता की जटिल प्रतिस्पर्द्धा में संतुलन स्थापित रखना आवश्यक है। मीडिया के सामने प्रश्न यह है कि एक ओर समूहगत सूचना तंत्र और दूसरी ओर व्यक्तिगत सूचना तंत्र के बीच आकांक्षाओं में कैसे समन्वय की स्थिति बनाए रखी जा सकती है। सबसे बड़ा प्रश्न यह है कि क्या व्यवस्थित/संगठित सूचना-प्रसार के युग में वैयक्तिक वैकल्पिक सूचना

के लिए स्थान सम्भव है, विशेष रूप से जब समाज में सूचनासम्पन्न और सूचनाविपन्न समूहों में सूचना के अधिकार और जनहित में इसके प्रयोग में सहमति का अभाव हो। विभिन्न नामों के अन्तर्गत तथा जनहित के नाम पर जो सूचना तन्त्र सक्रिय है, क्या वह निष्पक्षता तथा वस्तुपरकता का पालन कर सकता है। ऐसी परिस्थितियों में अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता किस प्रकार सक्रिय और सकारात्मक भूमिका अदा कर सकती है।

## और अन्त में

यह लेख ज्यां बोदिया के एक कथन से प्रारम्भ हुआ है और उसी के एक और कथन पर समाप्त होता है

“... In both public discourse and public purpose in an era of unrelenting hyper information the public has fallen silent—in fact disappeared—as a meaningful entity... The will for collective political action as been supplanted by radical uncertainty as to our desire, our own choice, our own opinion, our own will... The public has collapsed merely an aggregation of irritated and confused media consumers who in response to their sense of uncertainty take their revenge by allowing themselves the theatrical representation of the political sense.”

तो क्या राजनीति की भाँति मीडिया भी एक रंगमंचएब्सर्ड का रंगमंचहै या बनता जा रहा है?

## अखबार

### शंकर पुणतावेकर\*

अखबार लोकतन्त्र की देन है, और कहा जा सकता है कि स्वयं लोकतन्त्र अखबार की देन है। अखबार को अवश्य ही खूब मार खानी पड़ी है, बार-बार मौत से गुजरना पड़ा है तब कहीं लोकतन्त्र उपजा है। तथापि लोकतन्त्र अखबार से दो हाथ दूर ही रहता है।

मेरे पढ़ने में नहीं आया, पर मैं समझता हूँ कि अखबार अवश्य ही लोकतन्त्र का वॉचडॉग कहा गया होगा। इस मायने में यदि सरकार और अखबार के रिश्ते कटु हैं तो यह दोनों की ही परिपक्वता के लक्षण हैं। एक आदर्श दम्पति के विपरीत दोनों की मधुरता 'प्रजा' के लिए घातक है।

अखबार को पाँचवाँ कॉलम कहा गया है। कई जगह पढ़ चुका हूँ मैं। किन्तु कहीं भी शेष चार कॉलम कौन-से हैं पढ़ने को नहीं मिला। हमारे यहाँ अच्छों-से-अच्छों में सामान्य ज्ञान ऐसा कि पाँच पाण्डवों के नाम नहीं जानते, शायद इसलिए भी कि यही आधुनिकता का तकाजा है। पर आधुनिकता में चार कॉलमों के नाम तो जानने चाहिए, पर नहीं जानते। मेरे ख्याल से ये चार कॉलम हैं। राजनीति, धर्म, प्रशासन और वाणिज्य। इन्हीं पर हमारी व्यवस्था टिकी हुई है। ये कॉलम जहाँ परस्पर विरोधी हैं वहाँ एक-दूसरे के पूरक भी।

आपने कभी ख्याल न किया हो संतुलित व्यवस्था वह, बात कुछ अजीब लगे, जिसमें राजनीति, धर्म, प्रशासन, वाणिज्य चारों कॉलम जहाँ एक दूसरे के पूरक हों, वहाँ विरोधी भी। यदि ऐसा नहीं होगा तो प्रजा की दृष्टि से इनका मेल साठगाँठ की कोटि का होगा। देश के लिए अहितकारी।

और इन चारों स्तंभों के मेल-विरोध युक्त संतुलन के लिए जरूरत होती है पाँचवें स्तंभ की।

अब यह पाँचवाँ स्तंभ ऐसा है जो व्यवस्था में है और नहीं है। व्यवस्था में नहीं होगा तो कॉलमों का वॉचडॉग कैसे बनेगा और व्यवस्था में होगा तो वॉचडॉग कैसे बनेगा।

\* 2 मायादेवी नगर जलगाँव 425002; मो. 9403159031

अखबार की 'व्यवस्था में है' और 'व्यवस्था में नहीं है' की स्थिति बड़ी नाजुक है। अखबार प्रायः किसी पक्ष विशेष का बन जाता है अथवा इसका चालक कोई प्रतिष्ठान होता है वाणिज्य का। फिर अखबार लालची होता है प्रशासन के विज्ञापनों का। इस दशा में वह तटस्थ नहीं रह पाता, पोषक या रक्षक का पक्षधर बन जाता है। अखबार के मामले में जैसी पक्ष-विशेष की भूमिका वैसी ही धर्म-विशेष की।

अखबार मूलतः प्रजा की वाणी है उस प्रजा की वाणी जो व्यवस्था के असंतुलन से सताई जाती है। इस असंतुलन में जो भी स्तंभ दोषी होता है, वह प्रजा की वाणी की ओर से अपने अखबार में विमुख रहता है, जरूरत पड़ने पर वह सिद्धांत की आड़ में वाणी का विरोध भी करता है।

इस विरोध का नतीजा यह होता है कि इस विरोधी स्तंभ के खिलाफ वे स्तंभ अपने अखबार में आवाज उठाते हैं जो किन्हीं कारणों से उससे नाराज रहे हैं।

अंततः परिणाम यह होता है कि प्रजा की वाणी हाशिए पर पड़ जाती है और अखबारों में स्तंभ-युद्ध आरम्भ हो जाता है। धर्म वाणिज्य को भला-बुरा सुना रहा है, वाणिज्य प्रशासन को, प्रशासन राजनीति को छोड़ किसी को भी और राजनीति वाणिज्य-धर्म किसी को भी पर प्रशासन और वाणिज्य को दबे स्वर में।

हाँ, प्रशासन के सीधे-सीधे अखबार नहीं होते। पर प्रशासन अपने इशारों पर अखबार को नचाना बखूबी जानता है। अखबार भी और स्तंभों से इतना भयभीत नहीं रहता, राजनीति से भी नहीं जितना प्रशासन से।

वास्तव में देखा जाए तो प्रजा की वाणी का अखबार इन्हीं स्तंभों की वाणी बना रह जाता है।

वैसे भी हम अखबार की खबरों को कहते हैं दुनिया की खबरें, प्रजा की खबरें नहीं कहते। और दुनिया सिकुड़ गई है इन चार स्तंभों में ही। हाँ, वाणिज्य में खेल और फिल्म ये दो पद और जुड़ गए हैं।

खेल और फिल्म तो अखबार के प्राण हैं।

अखबार भिन्न स्तंभों के परस्पर संघर्ष से ऐसा चुटीला नहीं बनता जैसा एक स्तंभ के भिन्न समूहों के संघर्ष से। धर्म के दो भिन्न पंथ लड़ते हैं अथवा वाणिज्य के विशेषतः उद्योग के दो भिन्न वर्ग टकराते हैं तो अखबार के लिए जैसे चाँद ही धरती पर उतर आया हो। संघर्ष जितने लम्बे खिंचते हैं और प्राणलेवा सिद्ध होते हैं, अखबार को वे उतने ही पुष्ट और प्राणवान बनाते हैं।

मैं दुनिया को तीन तरीकों से जानता हूँ एक देख-सुनकर, दो किताबें पढ़कर और तीन अखबार से रिश्ता जोड़कर। देखने-सुनने की क्षमताएँ सीमित हैं। जहाँ तक देखने की बात है हम दुनिया को देखकर भी नहीं देख पाते। फिर मैं वही तो देखता

हूँ जो मुझसे सम्बद्ध है। दायरे में भी दायरा ही। हाँ, दुनिया को जानने का किताबें जरूर ऐसा तरीका हैं जो मुझे दुनिया के किसी भी हिस्से को ऐसा दिखाती हैं कि जो मैं प्रत्यक्ष देखकर भी नहीं देख सकता। मेरा पड़ोसी जो हजारों रुपए खर्च करके अमरीका घूम आया है उस प्रायःद्वीप के बारे में इतना नहीं जानता जितना मैं जानता हूँ पुस्तक पर सामान्य-सी रकम खर्च करके। लेकिन किताबों से हम ऐसे नहीं जुड़ पाते जैसे अखबार से। फिर किताबों से हम फुरसत में ही जुड़ पाते हैं, वह भी ज्ञान के लिए नहीं रंजन के लिए। साथ ही फुरसत समय का वह इन्स्टालमेंट नहीं जो हम अखबार को आदतन देते हैं। जिन्दगी में फुरसत राइट नहीं प्रिविलेज है। यही कारण है कि आज की जिन्दगी में से पुस्तकें गायब हैं। फिर किताबों का फुरसत पर इतना कहाँ अधिकार है जितना क्रिकेट, गपशप, आउटिंग, क्लब और अब टीवी का है। अखबार किताबों से इस मायने में अलग है कि वह अपने में खबरों के माध्यम से दुनिया भर की बातें समेटे रहता है। इन्फरमेशन में से नॉलेज। ज्ञान ही नहीं रंजन-दिशा-दृष्टि-मंथन सभी। मुख्य बात तो यह है कि वह समय के साथ होता है उपलब्धियों-समस्याओं दोनों को लिए हुए। मंथन में वह समाधान की ओर भी संकेत करता है। अनुकूल-विपरीत सम्भावनाओं को प्रस्तुत करना भी कर्तव्यदक्ष अखबार का काम है। अखबार में तो समय-सन्दर्भ के अनुरूप ऐसी रचनाएँ भी होती हैं जिन्हें हम किताबों में पढ़ते हैं। आदमी को कुछ का सब कुछ जानना चाहिए जिसके लिए वह किताबें पढ़े, और सबका कुछ-कुछ जिसके लिए पढ़े अखबार। अखबार जानकारी की दृष्टि से हमारे जीवन का ऐसा जरूरी अंग बन गया है कि ज्ञानी-से-ज्ञानी भी बिना अखबार के अधूरा है।

अब जिस अखबार के बिना आदमी अधूरा है, हमने कभी नहीं सोचा कि केवल चार स्तंभों की खबरें पेश करने वाला अखबार स्वयं अधूरा है। या हम चार स्तंभों को ही दुनिया मान बैठे हैं।

हाँ, जाने-अनजाने हमारी दुनिया वह है जो अखबार हमें दिखाता है। मेरे लिए न्यूयार्क या पेरिस तो दुनिया है जहाँ अखबार मुझे जब तब ले जाता है किन्तु मदुरै या फरीदाबाद नहीं जो दुर्घटना से ही अखबार में स्थान पाते हैं। अखबार हमें दुनिया की खबरों से परिचित नहीं कराता, खबरों की दुनिया से कराता है।

खबरों की दुनिया अखबार वालों की ही पैदाइश है।

कॉलेज के प्रिंसिपल की बेटी का विवाह और कॉर्पोरेशन के मेयर की बेटी का विवाह ये समान घटनाएँ हैं। प्रिंसिपल चरित्र और विद्वता की दृष्टि से बहुत अभिमान योग्य व्यक्ति है किन्तु उसके यहाँ की शादी मात्र-घटना की खबर है, इसके विपरीत मेयर चरित्र और विद्वता की दृष्टि से त्याज्य व्यक्ति है तथापि उसके यहाँ की शादी ऊँची खबर की घटना है। घटना की खबर अखबार पैदा करनेवाली हो किन्तु खबर

की घटना वह जिसे अखबार पैदा करता है। पैदा होना और पैदा करना में गरीब-अमीर जैसा फर्क है।

इसका नतीजा यह हुआ है कि अखबार खबरों की दुनिया का ही बना रह गया है। और इसने इस दुनिया के सामान्य को भी बाहर के असामान्य से बढ़-चढ़कर बना दिया है। परिणाम-स्वरूप सार्थक जिन्दगी उनकी है जो खबरों की दुनिया में विराजते हैं।

अखबार नाहक तौर पर जिंदगी को सार्थक बनाता है। उदाहरण-स्वरूप फिल्म और क्रिकेट जगत को ले लीजिए। फिल्म और क्रिकेट दोनों लोकरुचि की दृष्टि से निर्विवाद विषय हैं। पर अखबार इन्हें जिस प्रकार सिर पर चढ़ाए रहते हैं उससे दोनों के प्रति लोकरुचि अफीम में परिणत हो गई है। इनकी पराजयों में भी जो महत्ता अखबार के कारण है वह सैनिक-वैज्ञानिकों की उनकी विजयों में भी नहीं देख पड़ती।

क्या प्रिंसिपल के यहाँ की शादी को अखबार में स्थान मिलता ही नहीं? मिलता है उसमें यदि खबर की दुनिया का मन्त्री-सन्त्री, खिलाड़ी-विलाड़ी आ जाए। अपने बूते पर भी अखबार में इस शादी को स्थान मिल जाता है यदि मंडप को आग-वाग लग जाए, लड़की यदि मंडप से भाग जाए तो अखबार की खूब बन आती है।

सवाल उठना चाहिए कि प्रिंसिपल के यहाँ की शादी के अखबार में जाने की जो शर्तें हैं वे मेयर के यहाँ की शादी के जाने के लिए क्यों नहीं हैं?

लेकिन सवाल उठता नहीं। इसलिए नहीं उठता कि प्रिंसिपल की दुनिया प्राकृत है और मेयर की निर्मित। निर्मित फैक्टरी के माल-सी। जिसे मैं खबरों की दुनिया कहता हूँ वह यही निर्मित दुनिया है।

लक्ष्मी को अपने व्यक्तित्व का बड़ा गरूर है। क्यों न हो, वह अपार सम्पत्ति की स्वामिनी जो थी। उसके साबुन-शैम्पू, फौलाद-सीमेंट, फ्रिज-टीवी जैसी चीजों के ढेर सारे कारखाने थे। परिणाम-स्वरूप लक्ष्मी की बाजार में खासी साख और राजधानी में ऊँची धाक थी। उसका पति नारायण बहुत ऊँचा विद्वान था। गरूर में एक दिन उसने अपने पति से कहा, मेरा शैम्पू सिर की चीज और तुम्हारी पुस्तक भी सिर की चीज! तुम अपनी पुस्तकों की बड़ी डींगें हाँकते हो, कहते हो मेरी पुस्तकें विश्वविद्यालयों के क्लासरूम की चीज हैं और मेरे शैम्पू की खिल्ली उड़ाते हुए कहते हो कि वह सामान्य से बाथरूम की चीज है। पर तुम यह नहीं जानते मेरा सामान्य-सा शैम्पू कहीं जाता है तो फाइव स्टार होटल में ठहरता है, जबकि तुम्हारी विश्वविद्यालयी किताब ठहरने के लिए किसी सराय की तलाश करती है। सुनकर नारायण हँसे और बोले, यह तो दुनिया का नियम है प्रिये! इस्तेमाल की सराय फाइव स्टार होटल जीती है तो इस्तेमाल का फाइव स्टार सराय तरसता है। इस पर लक्ष्मी ने अपना पत्ता यों चला, शैम्पू बुलाता है तो अबखबारवाले फौरन दौड़े-दौड़े चले आते हैं। तुम्हारे बुलाने पर आएँगे कभी!

बिलकुल नहीं, नारायण ने कहा, और मैं अखबारवालों को बुलाऊँगा भी नहीं। शैम्पू या साबुन को बाजार में शैम्पू या साबुन से टकराना होता है सो वह अखबार और विज्ञापन का आसरा लेता है, पुस्तक के साथ किसी पुस्तक से कहीं भी टकराने की बात नहीं। सो न उसे अखबार की जरूरत है और न विज्ञापन की। पुस्तक के लिए यदि मैं ऐसा करता हूँ तो शैम्पू-साबुन की तरह उसे बाजारू बना रहा हूँ। उसकी कोटि को प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष उजागर कर रहा हूँ। बाजार में शैम्पू का पैक कितना ही ऊँचा हो, वह बाजारू चीज है, पुस्तक का पैक कितना ही सामान्य हो वह बाजारू नहीं होती। बल्कि यों कहूँ कि उसका पैक वह बाजारू न होने से ही सामान्य होता है। वह चमड़ी से नहीं बिकती आत्मा से बिकती है।

आगे नारायण ने अवश्य ही यह कहा होगा, विचार पैदा होते हैं, शैम्पू की तरह पैदा नहीं किए जाते। अखबार होता है उत्पादित, सो वह उसकी ओर दौड़ा चला जाता है। शैम्पू-शैम्पू की तरह विचार-विचार में भी टकराहट होती है पर यह शैम्पू-शैम्पू के विपरीत व्यावसायिक नहीं होती। यह टकराहट तो वास्तव में समाज को दिशा देनेवाली होती है। तब भी अखबार इसकी ओर से उदासीन रहता है। इसकी खबर बनती भी है तो किसी कोने में दुबकी होती है। नारायण ने इसके बाद शायद बम-विस्फोट किया हो। ऐसा इसलिए होता है कि अखबार खुद शैम्पू-साबुन जैसे तुम्हारे उत्पाद हैं।

लक्ष्मी चिढ़ गई होगी इसलिए भी कि पति जो-कुछ कह रहा है उसमें बहुत-कुछ तथ्य है। अपने पास देने के लिए जवाब नहीं है देख वह नारायण के सामने से उठकर अंदर चली गई होगी।

और इधर नारायण सोच रहे होंगे, अब तो विचार भी शैम्पू-साबुन की तरह अपना डंका पीटते हैं, इन्हें भी पब्लिसिटी चाहिए। पब्लिसिटी इसलिए भी चाहिए कि विचार अब अध्ययन-अवलोकन-चिन्तन में से पैदा नहीं होते, दी हुई रूपरेखा के कच्चे माल से तैयार किए जाते हैं। चर्चा-गोष्ठी के बाजार में ये खूब बिकते हैं और अखबार में चर्चा का विषय बनते हैं।

खबरों की दुनिया के अलावा दुनिया की खबरें भी अखबार में होती हैं। ये सदन में विरोधी-जैसी होती हैं। ये आवाज उठाती रहती हैं बस। सत्तापक्ष की खबरों की दुनिया पर इनका कोई खास असर नहीं पड़ता। लोकतन्त्र विरोधी पक्ष के बिना अधूरा है, उसी तरह अखबार बाढ़-अकाल-आन्दोलन-दुर्घटना आदि कि बिना।

अखबार में दुनिया की खबरों में आरक्षित कोटे की ही खबरें जा सकती हैं, अन्य नहीं। ये खबरें क्या होती हैं, इस सम्बन्ध में मैं आपको एक किस्सा सुनाता हूँ।

एक आदमी अपनी खासी रोटी, खासी प्रतिष्ठा और खासे मकान में रहता था। सब-कुछ चोखाबीबी-बालबच्चे-बैंक-बैलेंस, सो चैन से न खाया-पिया-जिया जाए।

तड़प जागी कि अखबार में बैठूँ।

अखबार में बैठने के लिए उसने नाना उपाय किए। उसने झोंपड़पट्टी सेवा-कार्य अपनाया, प्रौढ़ों को शिक्षा देने का कार्य हाथ में लिया, दहेज-प्रथा के विरोध में अभियान छेड़ा, अंधविश्वास-बालश्रम-शराब आदि के खिलाफ लोगों में जागृति पैदा की, पर कोई नतीजा नहीं निकला। अखबार उसकी ओर दूका तक नहीं।

आखिर एक दिन वह अखबार के दफ्तर पहुँचा। संपादक से बोला, बदल-बदलकर मैंने कितने ही अच्छे काम किए हैं कि मैं अखबार में समाचार बन चमकूँ। पर हाय, आपने मुझे बड़ा निराश किया। मुझे अखबार में स्थान न देकर आपने मेरी सेवाओं को धूल में मिला दिया। इसके बाद आदमी ने अपने सेवा कार्यों की सूची सम्पादक को दिखाई और सवाल किया, बताइए मैंने कौन-सा कार्य गलत किया है कि अखबार न चढ़ सका।

सम्पादक ने सूची पर नजर दौड़ाई और हँसकर कहा, आपने कोई गलत काम नहीं सचमुच एक-एक कर अच्छे काम किए हैं। और अच्छे काम आपने अपनाए, तभी हमारा ध्यान आपकी ओर नहीं गया। आपको यदि अखबार में स्थान चाहिए था तो आप चोरी करते, जेब काटते, रिश्वत लेते, बहू जलाते, बलात्कार करते, खूनी बनते। देखिए, सही काम पकड़कर आप दुनिया की नजरों में तो चढ़ सकते हैं, किन्तु अखबार की खबरों में नहीं।

सम्पादक ने आगे कहा, दुनिया में अच्छे कामों की तो सीमा है, बुरे कामों की नहीं। आप चाकू चलाइए, आग लगाइए, दंगा भड़काइए, लड़की भगाइए, तस्करी कीजिए, झूठे दस्तावेज बनाइए, नोट छापिए, गबन कीजिए। कितने गिनाऊँ! और कुछ नहीं कर सकते तो किसी आम सभा में पत्थर ही फेंक मारिए। सौ बात की बात तो कहूँ तो अखबार की दुनिया में डाकू की दरकार है साधू की नहीं।

अर्थशास्त्र-राजनीतिशास्त्र जैसे विषयों में हमें उनके स्वरूप की व्याप्ति बताई गई थी। मैं समझता हूँ सम्पादक ने यहाँ समाचारशास्त्र की व्याप्ति पर ही खासा प्रकाश डाला है। व्याप्ति को यहाँ संकोच भी कहा जा सकता है। सभी को अखबार स्वर्ग-सा लगता है, किन्तु यह ऐसा स्वर्ग है जिसमें पुण्यवानों को प्रवेश नहीं और पापकर्मों इससे दूर भागते हैं। यह स्वर्ग पापकर्मियों से ही हराभरा रहता है।

अखबार को निस्संग होना चाहिए यह कहना आसान है, पर जब गुरु, आलोचक और न्यायाधीश भी निस्संग नहीं हो सकते, तो अखबार कैसे बन सके! तथापि कोई अखबार जितना निडर, निःसंदिग्ध और निष्ठित होगा, उसकी भूमिका देश के किसी ऊँचे चिन्तक से किसी कदर कम नहीं आँकी जा सकती।

अखबार की आत्मा उसके सम्पादकीय पृष्ठ में होती है।



यह पृष्ठ प्रमुखतः तीन हिस्सों में बँटा होता है। मुख्य हिस्सा सम्पादकीय सम्पादक की कलम का होता है। दूसरा हिस्सा बाहरी व्यक्ति के लेख के लिए निर्धारित होता है। तीसरे हिस्से में, जो कम महत्वपूर्ण नहीं माना जाता, पाठकों के पत्र होते हैं।

इस पृष्ठ को आत्मा में इसलिए मानता हूँ कि यह प्रतिक्रिया पृष्ठ हैखबर की खबर का। सामान्य जन पत्र से प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं तो विद्वत्जन लेख से और स्वयं अखबार सम्पादकीय से। पत्र और लेख निस्पक्ष हो छापे जाने चाहिए, क्योंकि इनमें स्वयं अखबार की भी आलोचना हो सकती है। सम्पादकीय में तटस्थ निदान की उम्मीद की जाती है।

तटस्थ निदान जब नहीं होता तो आधा गिलास या तो 'पूर्णता की ओर' अथवा 'पूर्णता का अभाव' से प्रशंसित या निन्दित होता है। डाले गए प्रकाश से योजना की शीतल परछाई बनती है या घना अँधेरा।

अखबार का सम्पादकीय पृष्ठ वास्तव में लोकसभा के सदन जैसा होता है। पाठकों के पत्र सामान्य सदस्य के उठाए गए मुद्दों और सवालियों की तरह कहे जा सकते हैं। विद्वत्जनों के लेख प्रधानमन्त्री और विरोधी नेता के वक्तव्यों के समान तो सम्पादकीय स्पीकर के समीक्षण की भाँति माने जा सकते हैं।

शिक्षा-कला-चिन्तन के लोगों का सदन में गौण स्थान है, प्रसन्नता की बात है कि ये विषय अखबार के इस पृष्ठ पर अब गौण नहीं रह गए हैं। वैसे अखबार की ही सीमाएँ टूटी हैं। वह राजनीति-प्रशासन, वाणिज्य के भोज (ईट), क्लब (ड्रिंक) और पिकनिक (बी मेरी) में ही बद्ध नहीं रह गया है, यद्यपि प्रमुखतः है वह इन्हीं का।

अखबार हाथ में टॉर्च लिए अपने तरीके से घटनाओं पर प्रकाश डालता है अपने कोण से। घटनाएँ छोड़ता भी जाता है चाहे महत्वपूर्ण ही क्यों न हो, किन्हीं पर प्रकाश अधिक केन्द्रित करता है।

सतर्क पाठक घटनाएँ ही नहीं पढ़ता उनकी परछाइयों में से भी गुजरता है। बल्कि कहें कि वह इनकी प्रतिध्वनियों को सुनता है। जैसे मानसिंह में से राणा प्रताप की। इसी में से लेखक-चिन्तक पैदा होते हैं।

तभी कहा जा सकता है जहाँ अखबार समाप्त होता है वहाँ से पुस्तक आरम्भ होती है।

## पुस्तक-चर्चा

# ऐन्द्रजालिकता को तोड़ती पुस्तक\*

कैलाश चन्द्र पन्त\*\*

हिन्दी भाषा में ज्ञान के महत्वपूर्ण विषयों पर मौलिक लेखन बहुत कम हो रहा है। दुनिया के दूसरे देशों में भी जो अद्यतन विमर्श चल रहा है अथवा जो नए शोध हो रहे हैं, हिन्दी पाठक उनसे प्रायः अपरिचित ही रहते हैं। कुछ लोग आज भी उन सिद्धान्तों की रट लगाए हुए हैं, जो प्रायोगिक स्तर पर असफल हो चुके हैं और संसार के प्रबुद्धजनों ने जिन्हें अस्वीकार कर दिया है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण मार्क्सवाद है, जिसके आर्थिक विश्लेषण ने दुनिया के बड़े हिस्से को किसी समय चमत्कृत कर दिया था। लगभग सात दशक तक मार्क्सवाद की प्रयोगशाला बने रहने वाला सोवियत संघ जब धराशायी हुआ तब उसके कारणों की तलाश प्रारम्भ हुई। सबसे बड़ी विडम्बना यह थी कि सोवियत संघ का विघटन सामाजिक परिवर्तन की मार्क्सवादी अवधारणा को ध्वस्त करता है। मार्क्सवाद मानता रहा कि किसी समाज में आमूल सामाजिक परिवर्तनों की गति उत्पादन के साधनों के विकास और उत्पादक शक्तियों के आपसी सम्बन्ध पर, आर्थिक संरचनाओं की सामर्थ्य या उसके सामर्थ्यहीन होने पर निर्भर करती है। किसी समाज के ऐतिहासिक विकासक्रम में प्रगतिशील वर्ग और प्रगतिशील आर्थिक ढाँचा पिछड़े या प्रतिक्रियावादी वर्ग तथा उनके आर्थिक ढाँचे को नष्ट कर देता है। हमारे देश का प्रगतिशील बुद्धिजीवी वर्ग आज भी इन्हीं प्रस्थापनाओं को लेकर सोवियत संघ की असफलता के कुछ सतही कारणों में शरण ढूँढ रहा है। लेकिन इतने महत्वपूर्ण प्रश्न पर हिन्दी लेखकों तथा भारतीय विद्वानों का मौन किस बात का संकेत करता है उनके अज्ञान का? युरोप में चल रहे विमर्श से अपरिचय का? या वे किसी पिनक में पड़े हैं? इन सवालियों का चुभता हुआ उत्तर ढूँढने वाली एक अनूठी पुस्तक हिन्दी में आई है। डॉ. शंकर शरण राजनीति और इतिहास के गहरे अध्येता हैं। एक दीर्घकालीन शोध के फलस्वरूप उनकी पुस्तक 'बुद्धिजीवियों की अफीम साम्यवादएक

\* 'बुद्धिजीवियों की अफीम साम्यवादएक विवेचन' लेखकशंकर शरण : प्रकाशकवाग्देवी प्रकाशन, विनायक शिखर, बीकानेर : मूल्य : 250 रुपए।

\*\* लेखक मध्यप्रदेश राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, भोपाल में मन्त्री संचालक तथा द्वैमासिक 'अक्षर' के प्रधान सम्पादक हैं। पता 9/35 सहयाद्रि भदभदा रोड, भोपाल। मो. 9826046792



विवेचन' सचमुच ही मौलिक विवेचना और विश्लेषण का ऐसा ग्रन्थ है, जो हिन्दी वाङ्मय की रिक्तता भरता है।

इस ग्रन्थ के शीर्षक के पीछे फ्रांसीसी लेखक रेमण्ड एरों की पुस्तक 'लो पियम दे इण्टेलेक्चुअल' (बुद्धिजीवियों की अफीम) है। 1957 में इसका अंग्रेजी अनुवाद हो चुका था। तब यह बौद्धिक जगत में महत्त्वपूर्ण घटना थी। कार्ल मार्क्स ने रिलीजन को लोगों की अफीम बताया था। सिमोल वेल ने मार्क्सवाद को भी एक रिलीजन ही कहा था। इस पुस्तक में एरों ने बुद्धिजीवियों में जिन विरूपताओं का विश्लेषण किया था, वह भारतीय बुद्धिजीवियों के लिए आज भी प्रासंगिक है। शंकर शरण ने मार्क्सवादी अफीम के नशे की पड़ताल ज्यादा गहराई से की है और अपनी बात की पुष्टि में महत्त्वपूर्ण साक्ष्य जुटाए हैं। एरों के शब्दों में "कम्युनिज्म पश्चिम के संदेश का ही एक विकृत रूप है। यह भी प्रकृति को जीतने की महात्वाकांक्षा रखता है, लेकिन उसी चीज का बलिदान कर देता है जो मनुष्य के सभी प्रयासों का हृदय और प्राण है : जाँच और परीक्षण करने की स्वतन्त्रता, मतभेद रखने की स्वतन्त्रता, आलोचना की स्वतन्त्रता और वोट देने का अधिकार।"

जिन अधिकारों से मनुष्य को मार्क्सवाद वंचित करता है, वे किसी भी जनतन्त्र के अनिवार्य तत्त्व हैं। लेकिन डॉ. शंकर शरण सोवियत इतिहास के कटु सत्य को उद्घाटित करते हुए कहते हैं कि जार की सत्ता फरवरी 1917 में स्वतः स्फूर्त जन-विद्रोह में खत्म हो गई थी, जिसमें कम्युनिस्टों की कोई भूमिका नहीं थी। रूस की जनता लोकतान्त्रिक संसदीय गणतन्त्र की प्रक्रिया से गुजर रही थी। अक्टूबर 1917 में लेनिन सत्ता हथियाने में सफल हुए और इसे ही महान अक्टूबर क्रान्ति बताया गया। 1918 में रूसी संविधान सभा के चुनाव हुए। बोल्शेविक पार्टी को 707 सीटों में से केवल 168 सीटें मिलीं और सोशियल रिवोल्यूशनरी पार्टी को 410 सीटें। परिणामों के तुरन्त बाद लेनिन ने संविधान सभा को जन विरोधी बताकर भंग कर दिया। स्पष्ट है कि मार्क्सवाद की ध्वज वाहक बोल्शेविक पार्टी ने सत्ता की शुरुआत ही जनतन्त्र विरोधी कृत्य से की। फलस्वरूप रूस में गृहयुद्ध प्रारम्भ हो गया। इस युद्ध के बारे में मैक्सिम गोर्की ने लिखा "इस आत्मघाती युद्ध में देश के सबसे अच्छे लोगों का सफाया हो रहा है।" इन अच्छे लोगों में लेखकों की संख्या ज्यादा थी।

डॉ. शंकर शरण ने इस पुस्तक में मार्क्सवाद और साहित्य के सम्बन्धों पर भी विस्तार से प्रकाश डाला है। लेनिन के अनुसार "समाजवादी सर्वहारा लेखन किसी व्यक्ति का मामला नहीं है। सर्वहारा वर्ग के उद्देश्य से स्वतन्त्र होकर कुछ भी नहीं लिखा जा सकता। गैर पार्टी लेखन मुर्दाबाद।" लेनिन की इतनी स्पष्ट धारणा के बावजूद जो मार्क्सवादी लेखक स्वतन्त्रता की मशाल उठाने का दावा करते हैं उनके अज्ञान को क्या कहा जाए! तब लगता है कि मार्क्सवाद सचमुच अफीम है जिसमें गाफिल बुद्धिजीवियों का विवेक ही समाप्त हो जाता है। जब किसी लेखक की या

बुद्धिजीवी की खुमारी उतर जाती है तब उसे अज्ञेय, नरेश मेहता, निर्मल वर्मा की तरह घोषणा करनी पड़ती है

*आग्रह करो मत*

*इस तुम्हारे द्वार को ही मान लें भगवान*

*यह जन यहाँ से अलग होता है*

*पथ यहाँ से अलग होता है।*

मार्क्सवादी विचारधारा और साहित्यकार की स्वतन्त्र चेतना के बीच मौजूद विरोधाभास को कथाकार शैलेश मटियानी ने जनवादी लेखक संघ से सम्बद्ध रहे रमेश उपाध्याय के 'कथन' में लिखे सम्पादकीय में पकड़ लिया था। उसकी ये पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं "जनवादी लेखक संघ से निकट भविष्य में जो भी लेखक बाहर निकलेंगे (या निकाल दिए जाएँगे) वो सिर्फ मक्कार लोग रहेंगे।" मटियानी जी ने 'हंस' के सम्पादक राजेन्द्र यादव को सावधान करते हुए 15 अप्रैल 1982 को लिखा था "ध्यान यह भी रखें कि यदि कल, परसों या कभी भी जनवादी लेखक संघ से जिस भी लेखक ने अपने को अलग करना है, इस तोहमत को मोल लेते हुए ही कि अपने घृणित उद्देश्यों की पूर्ति न होने पर उसने यह मक्कारी की है।" भारतीय बुद्धिजीवियों ने मार्क्सवादी सत्ता को भोगे बगैर भी, उसकी विकृतियों को पहिचानने की समझ दिखाई है। डॉ. शंकर शरण बताते हैं कि 1932 में सोवियत लेखक संघ बनाया गया। केवल इसके सदस्य ही लिख सकते थे, लेखक संघ की स्वीकृति से ही उन्हें कहीं छपना नसीब हो सकता था। 1934 में सोवियत लेखक संघ की प्रथम कांग्रेस में 'समाजवादी यथार्थवाद' का सिद्धान्त तय कर दिया गया। दिलचस्प तथ्य है कि जिस मैक्सिम गोर्की को 1917 से 1928 तक कई किस्म की गालियों से विभूषित किया जाता रहा उन्हें ही इस नए सिद्धान्त का जनक घोषित कर दिया गया। हावर्ड फास्ट को 1954 में सोवियत संघ के तत्कालीन सर्वोच्च सम्मान से अलंकृत किया गया था। अमेरिका में वह कम्युनिस्ट पार्टी के आधार स्तंभ थे। कम्युनिस्ट पार्टी में शामिल होने के पूर्व उन्होंने 'कई अन्य लेखकों को पार्टी में शामिल होते और फिर मोह भंग के साथ उसे छोड़ते देखा था। 1957 में फास्ट ने भविष्यवाणी की "सत्ता के मद में चूर रूस के सत्ताधीश तभी जाएँगे जब जनता उन्हें, पार्टी संगठन रूपी उनके प्राच्य मन्दिर और जड़सूत्रों से भरी उनकी पुरोहिताई को और बरदाश्त करने से इंकार कर देगी। वह दिन जरूर आएगा।"

इस तरह शंकर शरण कम्युनिस्टों की रणनीतिक कार्यशैली को बेपर्दा करते हैं और यह निष्कर्ष निकालते हैं कि ऐसे दमघोटू वातावरण में फार्मूलाबद्ध, निर्देशित, नियंत्रित लेखन में लगा रहना रूसी लेखकों के लिए अपने को बेचने से कुछ अधिक

बेहतर काम नहीं रहा होगा। अनेक प्रतिभाशाली लेखकों को यातना शिविरों में डाला गया, देश से निर्वासित किया गया। सोवियत संघ में कम्युनिस्ट सत्ता के प्रारम्भिक दौर में आन्देई प्लातोव, ओसिप मन्देलशताम, पिल्मियाक, मायकोवस्की, नाटककार मिखाइल बुल्गाकोव, और स्वयं मैक्सिम गोर्की भी प्रताड़ित किए गए। 'डॉक्टर जिवागो' के लेखक बोरिस पास्तरनाक और सोल्झेनित्सिन की कथा तो सभी को ज्ञात है। लेखक का निष्कर्ष है कि सोवियत शासनकाल में अच्छे और सच्चे लेखकों, कवियों, वैज्ञानिकों और बुद्धिजीवियों को प्रताड़ित कर समाज के भावनात्मक, आध्यात्मिक जीवन का भयंकर विध्वंस किया गया। इस निष्कर्ष के साथ लेखक ने प्रश्न किया है कि जहाँ कहीं भी मार्क्सवादी सत्ता में रहे दमन और प्रताड़ना हथियार रहे तब मार्क्सवादी विद्वान कार्ल मार्क्स के कथन 'सिद्धान्त की कसौटी व्यवहार है' की कसौटी पर इन तथ्यों को क्यों नहीं कसते? यदि वे ऐसा करें तो उपन्यासकार सोल्झेनित्सिन की इस उक्ति का अर्थ समझ सकेंगे "विचारधारावह चीज है जो बुरे काम के लिए लम्बे समय से खोजा जाता रहा औचित्य और बुरे काम करने वाले को जरूरी सामर्थ्य और दृढ़ता प्रदान करती है।" हिन्दी लेखकों को प्रगतिवादी आलोचक शिवदान सिंह की यह टिप्पणी याद दिलाई गई है "1948-51 के दौरान प्रलेस में कम्युनिस्ट पार्टी के कट्टर अनुयायियों और संगठन मन्त्री के कुछ दोस्तों को छोड़कर सारे लेखकों को 'मार्क्सवाद और जनता के दुश्मन' बताकर राहुल, पन्त, अज्ञेय, दिनकर, हजारीप्रसाद द्विवेदी, यशपाल, नरेन्द्र शर्मा, अशक, बच्चन, बेनीपुरी, शिवदान को बदनाम किया गया।" लेखक ने अपनी विशिष्ट शैली में निष्कर्ष निकाला है "कम्युनिस्ट पार्टी एक झूठे देवता की अंध पूजा है, जिसमें समर्पित हो चुकने के बार उसके कटु यथार्थ से साक्षात्कार एक ऐसा अनुभव है जिसे इस अनुभव से गुजरने वाले ही समझ सकते हैं। इसीलिए जब कोई कम्युनिस्ट पार्टी से बाहर निकलता है तो वह एक कष्ट भरी सुरंग से निकलता है। मानो एक दुःस्वप्न से जागता है।" हार्वर्ड फास्ट ने कम्युनिस्टों में चार प्रकार के अंधविश्वासों की बात कही है 1. परिणाम का अंध विश्वास 2. भविष्य ज्ञान और गूढ़ ज्ञान का अंध विश्वास 3. अबूझ शब्दजाल पर अंधविश्वास 4. जड़-सूत्रों और मुहावरों का अंध विश्वास। इन अंधविश्वासों को लेखक ने ठोस तथ्यों से विश्लेषित किया है।

शंकर शरण की इस पुस्तक से गुजरने के बाद बुद्धिजीवियों के मन में यह प्रश्न जरूर खड़ा होगा कि क्यों प्रगतिशील और जनवादी लेखक संघों द्वारा विभिन्न अवसरों पर पास किए प्रस्ताव या नीति वक्तव्यों का रिकार्ड गायब कर दिया गया? शंकर शरण बेहद खूबसूरती से माओ के कथन को विश्लेषित करते हुए लिखते हैं "प्रगतिशील लेखक संघ और जनवादी लेखक संघ के राजनीतिक प्रस्ताव और दस्तावेजों से इसकी दयनीय तस्वीर देखी जा सकती है कि किस तरह मुक्त समाज के लेखकों ने अपने ऊपर एक मानसिक गुलामी लाद ली और अपने गौरवशाली काम को छोड़कर वे तीसरे दर्जे के राजनीतिक कर्मियों में बदल कर रह गए।"

मार्क्सवाद के वैचारिक धुँधलेपन और व्यावहारिक अमानुषिकता को सप्रमाण प्रस्तुत करने का साहस दिखाते हुए प्रगतिवादी और जनवादी कठमुल्लों की विचारहीनता के अनेक साक्ष्य लेखक प्रस्तुत करता है। यह पूरा विवेचन पाठकों को उद्वेलित ही नहीं करता, यह सोचने को भी मजबूर करता है कि आजादी के बाद जिन लोगों ने बौद्धिक जगत पर अपनी सत्ता जमा ली थी, उन्हें भारत का पढ़ा लिखा वर्ग बुद्धिजीवी क्यों मान बैठा? यद्यपि वह सत्ता भी उन तथाकथित बुद्धिजीवियों ने कम्युनिस्ट शैली में राजनीतिक आकाओं के भोले विश्वास को जीतकर हासिल की थी, फिर भी इस सवाल का उत्तर शेष रह जाता है कि सत्ताधीशों ने क्यों उन्हें तमाम सुविधाएँ देकर उस जमीन में ही बारूद बिछाने की इजाजत दी जिस पर भारत का स्वर्णिम भविष्य निर्मित करने के सपने जनता को दिखाए थे? उत्तर पाने के लिए शंकर शरण जैसे किसी अन्य दुर्द्धर्ष इहिसवेत्ता की प्रतीक्षा रहेगी।

लेखक ने भारतीय सन्दर्भ में प्रगतिशील लेखन शैली के नकाब को उलटकर रख दिया है। अस्पष्ट शब्दावली जिनमें अर्थहीन शब्दों को भर दिया जाता है, कुछ नारे, कुछ सपने, कुछ अंधविश्वास ही मार्क्सवादियों के भाषणों, प्रस्तावों और लेखन की विशेषता होती है। खासियत यह है कि कम्युनिस्ट उनकी व्याख्या समय और परिस्थिति के अनुसार करते हैं। लेखक ने बताया है कि भारत के विभाजन का प्रस्ताव जिसे 'अधिकारीधीसिस' कहा गया कम्युनिस्ट पार्टी ने ही पास किया था और प्रगतिशील लेखक संघ इष्टा और एटक ने भी उससे मिलते जुलते प्रस्ताव पास किए थे। इसी तरह 1947 में भारत की झूठी आजादी पर, 1962 में भारत-चीन युद्ध पर, जे.पी. के फासिस्ट आन्दोलन पर पाए गए प्रस्ताव, दस्तावेज आज क्यों नहीं मिलते? शंकर शरण ने लिखा है "क्योंकि उन्हें पढ़कर किसी को भी समझ में आ सकता है कि कैसे प्रस्ताव लेने वाले लोग परम अंध विश्वासी या जड़-मस्तिष्क थे। लेखक ने सवाल उठाए हैं कि क्या कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा 1943 में पारित भारत के मजहबी आधार पर विभाजन वाला प्रस्ताव 'मुस्लिमों के आत्म निर्णय का अधिकार' हमें किसी कम्युनिस्ट प्रकाशन या मार्क्सवादी इतिहासकारों (एमिनेण्ट हिस्टोरियन्स) की पुस्तकों में मिलता है?" इस विचार को प्रगतिशील लेखक संघ के संस्थापकों में से एक सज्जाद जहीर ने प्रस्तुत किया था। इसी तरह सुभाष बोस को "फासिस्ट एजेण्ट जवाहरलाल नेहरू को 'साम्राज्यवाद का दौड़ता कुत्ता' और माओ की कुख्यात सांस्कृतिक क्रान्ति के गीत गाते दस्तावेज क्यों नदारद हैं? कामरेड हरकिशन सिंह सुरजीत ने सिखों के अलग राष्ट्र का सिद्धान्त बनाया। इसी तरह कम्युनिस्ट आन्दोलन और उससे उपजे प्रगतिवादी और जनवादी लेखक संघों के कार्यकलापों का शव परीक्षण तथ्यात्मक ढंग से किया गया है।

इस पुस्तक में हिन्दी के सबसे बड़े मार्क्सवादी आलोचक डॉ. रामविलास शर्मा की विद्वता और विश्लेषण क्षमता को लेखक ने कटघरे में खड़ा करने का साहसिक प्रयास किया है। लेखक का मत है कि शर्मा जी के सम्पूर्ण लेखन में जो चिन्ता प्रायः हर जगह अविच्छिन्न है वह मार्क्सवाद है, साहित्य, इतिहास या संस्कृति नहीं।" शर्मा जी निराला

के प्रशंसकों में थे। परन्तु लेखक ने साफ तौर पर आरोप लगाया है कि प्रेमचन्द, वृन्दावनलाल वर्मा और निराला के लेखन की वस्तुनिष्ठ टिप्पणियों को शर्मा जी ने छोड़ दिया। निराला के लेखन में आध्यात्मिक आभा भी उन्हें कहीं प्रभावित नहीं करती। इसी सन्दर्भ में निर्मल वर्मा को उद्धृत करते हैं “जहाँ निराला का लेखन शर्मा जी के राजनीतिक वैचारिक साँचे में फिट नहीं होता वहाँ शर्मा जी ने निराला को समेट सिकोड़कर उसमें जबरन समाने की कोशिश की।” लेखक का दूसरा आरोप है कि 1997 तक सोवियत संघ के बारे में अधिकृत जानकारीयों प्रकाशित हो चुकी थीं, परन्तु शर्मा जी 1947 से चली आ रही अपनी धारणाओं को संशोधित करने की कोशिश नहीं करते। लेखक के अनुसार डॉ. रामविलास शर्मा उन चीजों को देख नहीं सकते थे जो उनकी वैचारिक ‘लाइन’ के लिए चुनौती हो। 1956 में खुश्चेव स्वयं सोवियत संघ के पिछले चालीस साल के इतिहास के काले पन्नों में से कुछ खोल चुके थे। उससे भी शर्मा जी ने चिन्तन में कोई परिवर्तन करने का सबक नहीं सीखा और वे 1984 में प्रकाशित अपने ग्रन्थ में स्टालिन भक्ति प्रदर्शित करते हैं। इन तथ्यों के आधार पर लेखक उनके साहित्यकार को राजनीति कर्मी सिद्ध करते हुए यह ठोस तर्क देता है कि यदि शर्मा जी के लेखन को विद्वत समाज से मान्यता नहीं मिली तो इसका कारण भी उनको प्रचारक के रूप में देखा जाना है। टाम बाटमोर द्वारा सम्पादित ग्रन्थ ‘ए डिक्शनरी ऑफ मार्क्सिस्ट थॉट’ में साढ़े सात सौ मार्क्सवादी लेखकों की सूची में उनका नाम नहीं है।

इस पुस्तक में खड़े किए गए सवाल कम्युनिस्ट पार्टी के कार्यकर्ताओं और खासतौर पर मार्क्सवादी लेखकों को असुविधाजनक लग सकते हैं। वे भारतीय बुद्धिजीवियों को भी परेशानी में डालने वाले हैं।

पुस्तक को पढ़ना एक रोचक अनुभव से गुजरने के साथ ही हमें अफीमचियों की पीनक का परिचय भी कराता है। मार्क्सवाद के छद्म का और उनके सांगठनिक तौर तरीकों का रोमांचकारी ज्ञान कराता है। पुस्तक के अन्त में पाठक को सोचना पड़ता है कि वह अब तक कितना गाफिल और बाहरी प्रचार से आतंकित था कि पारदर्शी सत्य को देखने से भी इंकार करता रहा। अपने विवेक के इस तरह लुप्त हो जाने की ग्लानि से उबरने के अवसर भी डॉ. शंकर शरण का यह ग्रंथ उपलब्ध कराता है। विद्वत समाज में इस पुस्तक पर व्यापक चर्चा होनी आवश्यक है। सोल्झेनित्सिन द्वारा अपने निष्कासन के विरुद्ध सोवियत लेखक संघ के सचिव मंडल को लिखे पत्र का एक अंश डॉ. शंकर शरण ने अपनी पुस्तक के प्रारम्भ में दिया है। पत्र का प्रत्येक शब्द मार्क्सवादी लेखकों को चेतावनी है

“अपनी घड़ियों पर से धूल झाड़ लो। तुम्हारी घड़ियाँ समय से पीछे चल रही हैं। उन भारी परदों को झटककर खोल दो जो तुम्हें इतने प्रिय हैंतुम यह सोच भी नहीं पा रहे कि बाहर दिन निकल आया है... वह समय निकट है जब तुम में से हरेक आज के इस प्रस्ताव के नीचे किए गए अपने दस्तखत मिटा देना चाहेगा।”

## कलाओं की दुनिया में डॉ. लोहिया

प्रयाग शुक्ल\*

डॉ. राम मनोहर लोहिया से मेरा परिचय 1965 में दिल्ली में हुआ था। यह सम्भव हुआ था बदरीविशाल पित्ती की पहल पर। मैं 1963-64 में कल्पना के सम्पादन मण्डल में काम करने के बाद दिल्ली आ गया था साल भर हैदराबाद में बिताकर। वहाँ डॉ. लोहिया को दो-एक बार देखासुना था पर कभी भेंट नहीं हुई थीऐसी भेंट, जिसमें कुछ बातचीत सम्भव होती है, और एक-दूसरे को व्यक्तिगत स्तर पर जानना भी सम्भव होता है। मुझे यह मालूम था कि बदरीविशाल पित्ती, डॉ. लोहिया के एक प्रमुख सहयोगी हैं। हैदराबाद रहते हुए ही डॉ. लोहिया की कुछ किताबें देखी थीं जिनके आवरण मकबूल फिदा हुसेन ने बनाए थे। इन्हें बदरीविशाल पित्ती ही नवहिन्द प्रकाशन की ओर से प्रकाशित करते थे। जाहिर है कि मकबूल फिदा हुसेन और डॉ. लोहिया के बीच के परिचय में ‘पुल’ का काम भी बदरीविशाल पित्ती ने ही किया था। बदरीविशाल जी की वैसे एक बड़ी खूबी यह थी कि वे हर माध्यम की स्वायत्तता पर विश्वास करते थे। ‘कल्पना’ के माध्यम से अगर उनके मन में एक अलग कोना ‘अज्ञेय’, ‘मुक्तिबोध’, शमशेर के लिए था, तो वैसा ही एक अलग कोना मकबूल फिदा हुसेन के लिए भी था चित्रकला के प्रसंग से, और राजनीति में डॉ. लोहिया के लिए। सबको उनके ‘स्पेस’ में देखकर भी वह सम्बन्ध बनाते थे। कलाओं की दुनिया में भी आपसदारी की बात तो उनके मन में रहती थी पर, उनके बीच अनावश्यक घालमेल की नहीं।

कल्पना और नवहिन्द प्रकाशन की पुस्तकें एक ही प्रेस में छपती थीं। डॉ. लोहिया से अपनी जिस पहली भेंट का जिक्र करने जा रहा हूँ उसकी कथा कुछ यों है। अपनी एक दिल्ली यात्रा में बदरीविशाल पित्ती ने मुझे दोपहर के भोजन के लिए निर्मात्रित कियाकनॉट प्लेट के एक रेस्तराँ ‘गेलॉर्ड’ में। वहाँ पहुँचा तो देखा कि डॉ. लोहिया भी हैं, कुछ और लोग हैं। बदरीविशाल जी ने परिचय करायामेरे इस

परिचय में यह बात भी निकली कि मैं कोलकाता में रहा और बड़ा हुआ हूँ। छूटते ही डॉ. लोहिया ने जानना चाहा कि जिस कोलकाता में हिन्दी संस्थाओं, और पत्र-पत्रिकाओं की स्थिति कभी बहुत अच्छी हुआ करती थी, उनकी स्थिति अब कैसी है? जहाँ तक मुझे याद है उन्होंने सम्भवतः विशाल भारत का भी जिक्र किया था। और भी कई चीजों का। यह तो मुझे बाद में मालूम हुआ कि स्वयं डॉ. लोहिया दो मौकों पर कोलकाता में अपनी युवास्था के कुछ बरस बिता चुके थे। बंगला वे मातृभाषा की तरह बोलते थे। निश्चय ही तब मुझसे बात करते हुए उनके मन में कोलकाता शहर भी 'बसा' रहा होगा। हमारी बातें चल निकलीं, और उन्होंने मुझे जन की मासिक गोष्ठी में आमंत्रित किया, जो कुछ दिनों बाद ही होनी थी। तब तक मैंने उनका लिखा हुआ कुछ विशेष पढ़ा नहीं था, पर यह तो जानता ही था कि वह अन्य राजनेताओं से भिन्न हैंकि उनकी दिलचस्पी इतिहास, दर्शन, विज्ञान आदि कई विषयों में है। यह भी कि लेखकों-कवियों के साथ ही बुद्धिजीवी वर्ग में उनके लिए एक नई उत्सुकता पैदा हो रही है। लोकसभा का चुनाव फरूखाबाद से जीतकर वे संसद के सदस्य बन चुके थे। वहाँ हिन्दी समेत अन्य भारतीय भाषाओं का सवाल भी वह उठाने लगे थे, और सिर्फ राजनीतिक प्रश्नों पर ही नहीं, सामाजिक-सांस्कृतिक प्रश्नों पर कई ऐसे सवाल भी खड़े करते थे जो उनसे पहले लोकसभा में कभी, ठीक इसी रूप में खड़े नहीं किए गए थे। अखबारों और पत्र-पत्रिकाओं में उनके ये सवाल उन दिनों प्रमुखता के साथ प्रकाशित होते थे। 'अज्ञेय' सम्पादित जिस दिनमान के साथ में एक स्वतंत्र लेखक की तरह जुड़ा हुआ था, उसमें भी उनके विचारों को पर्याप्त जगह मिलती थी, जो आगे चलकर रघुवीर सहाय के संपादन वाले उस दिनमान में और बढ़ती गई थी, जब स्वयं डॉ. लोहिया हमारे बीच से 1967 में उठकर चले गए थे। यह तथ्य मैं इसलिए भी याद कर रहा हूँ कि जिस विषय पर बोलने के लिए मुझसे कहा गया है, उसमें उन वर्षों का काफी महत्त्व और योगदान है, जब डॉ. लोहिया हुसैन, अज्ञेय आदि के सम्पर्क में भी आए। और जब उनके न रहने के बाद भी धर्मवीर भारती, विजयदेव नारायण साही, 'रेणु', लक्ष्मीकान्त वर्मा, श्रीकान्त वर्मा, सर्वेश्वर जी, रघुवरी सहाय आदि के विचारों और उनके किए हुए कामकाज की याद दिलाते रहे। हिन्दी के सुपरिचित कवि कमलेश तो उन्हीं वर्षों में उनके निजी सचिव भी रहे। स्वयं डॉ. लोहिया के पत्र जन और मैनकाइण्ड तथा साहित्य और सांस्कृतिक मामलों के प्रतिनिधि पत्र कल्पना और दिनमान वह माहौल बना सके, जहाँ प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से डॉ. लोहिया के सोच, और सरोकारों की प्रतिध्वनियाँ थीं। यह सही है कि कल्पना को बदरीविशाल पित्ती ने कभी समाजवादी आन्दोलन से नहीं जुड़ने दिया, और उसे साहित्य और कलाओं का ही मासिक पत्र बने रहने दिया, पर,

उसके रचनात्मक और स्वदेशी के आग्रह के साथ, स्वयं लोहिया से उनके जुड़ाव ने, बहुतेरे लेखकों-कवियों और कलाकारों बुद्धिजीवियों को लोहिया की ओर उन्मुख तो किया ही। कृष्णनाथ, किशन पटनायक, ओमप्रकाश दीपक आदि कल्पना से जुड़े, और साहित्य की दुनिया में भी उनकी उपस्थिति ने लोहिया-उन्मुख एक रचनात्मक सम्वाद की सृष्टि की। हैदराबाद रहते हुए हम जैसे युवा, केशवराव जाधव जैसे लोहिया-सहयोगी के सम्पर्क में आकर राजनीति में लोहिया-भूमि की उर्वरता-सार्थकता से एक परिचय पा चुके थे। यह भी हम कह सकते हैं कि पचास के दशक के अन्तिम वर्षों से लेकर जयप्रकाश नारायण की 'सम्पूर्ण कान्ति' के आह्वान तक, लोहिया किसी-ने-किसी रूप में उस वृत्त या मण्डल के प्रेरक और सहभागी बने रहे, जो कांग्रेस समेत सभी अन्य पार्टियों से परे, विभिन्न क्षेत्रों में, कुछ नए स्वयं, नई मेधा, और नई रचनात्मकता की तलाश में था। सो, आज साठ के दशक की याद विशेष रूप से आती है, जब लोहिया स्वयं कर्नाट प्लेस के शामियाना कॉफी हाउस में आया करते थे, जहाँ हुसैन, सतीश गुजराल, स्वामीनाथन, अम्बादास समेत कई कलाकार तो आते ही थे, बहुतेरे रंगकर्मी, लेखक-कवि, पत्रकार, बुद्धिजीवी भी नियमित रूप से आते थे। और लोहिया स्वयं उनमें से प्रत्येक से परिचित भले न रहे हों, पर, उनके द्वारा उठाई गई तरंगों से बहुत दूर भी नहीं थे। और लोहिया जैसे नेता और राजनीतिक को अपने बीच पाकर, लेखकों-कवियों-कलाकारों की मण्डली भी उन्हें अपने बीच का मानने लगी थी तो इसमें अचरज नहीं। यानी मामला दोतरफा था, लोहिया उन सृजनधर्मियों और चिंतकों की तलाश में थे जो उनकी बातों पर गौर करते हों, भले उनसे पूरी तरह हर मामले में, न हों, और लेखक-कलाकार-बुद्धिजीवी भी उनकी ओर सहज ही खिंच रहे थे क्योंकि लोहिया की वाणी में ओज था, एक विचारपरक ऊर्जा थी, और जो भारतीय भाषाओं, भारतीय जन की जीवन-समस्याओं को खरेपन के साथ उठा रहे थे। सो, उस काल में लोहिया, और विभिन्न क्षेत्रों में एक देशी आधुनिकता की खोज वाले लोग मानों किसी-न-किसी रूप में एक साझा-भूमि के साझीदार थेभले ही उनकी मान्यताओं और राजनीतिक प्रतिबद्धताओं में फर्क रहा हो। यही वह काल था जब कुमार गन्धर्व, ज.स्वामीनाथन, अम्बादास, ब.व.कारन्त, 'रेणु' आदि कितने ही सृजनधर्मी, पम्परा और आधुनिकता के सम्बन्ध में नई तरह से सोच रहे थे, और 'लोक' को भी कहीं केन्द्र में रख रहे थे। नेहरू के यहाँ, 'लोक' चर्चा ठीक इसी रूप में नहीं थी, जैसी वह गांधी के बाद लोहिया में प्रकट हुई थी। हुसैन को रामायण चित्र-शृंखला के लिए प्रेरित करना हो या रामायण मेला की कल्पना हो, या आदिवासियों और लोक-शिल्पकारों कारीगरों आदि की चिन्ता हो, लोहिया को हम उस सजग भारतीय के रूप में पाते हैं जो हिमालय-चिन्ता के साथ, देश की जमीनी सच्चाइयों पर अपनी नजर रखे हुए था। यह भी एक कारण था कि लोहिया जैसे राजनीतिक व्यक्तित्व के विचारों, कर्म, और चिन्तन में रचनाकारों को



एक नई प्राणवत्ता दिखाई पड़ रही थी। वह राम, शिव, कृष्ण, द्रोपदी सब पर कुछ नया बोल और लिख रहे थे। और पश्चिम की इतिहास दृष्टि पर प्रश्न उठा रहे थे, लगभग उसी तरह जैसे अज्ञेय, स्वामीनाथन आदि अपने काल-सम्बन्धी चिन्तन में पश्चिम के बरक्स कुछ नई विचार सरणियाँ बना रहे थे। लोहिया भी काल की रैखिक दृष्टि से सहमत नहीं थे। और पश्चिम की प्रगति वाली अवधारणा से कुछ अलग सोच रखते थे। *व्हील ऑफ हिस्ट्री* पुस्तक में उन्होंने काल की भारतीय अवधारणा की अपने लिए एक नई व्याख्या भी की। ओम प्रकाश दीपक, और अरविन्द मोहन की लिखी हुई *लोहिया एक जीवनी* में अरविन्द मोहन ने उनकी काल-दृष्टि को अच्छी तरह संजोया है। वह लिखते हैं—“डॉ. साहब ने इस किताब में पूरी मानव सभ्यता से अब तक के विकास के कुछ बुनियादी सूत्रों को पकड़ने और रेखांकित करने का प्रयास किया है। जाहिर तौर पर इस प्रयास का मतलब मानव समाज को ज्यादा स्वस्थ ढंग से आगे ले जाने वाले सूत्रों को बताना या उनकी ओर इशारा करना है। और यह करते हुए भी डॉ. साहब काल की भारतीय अवधारणा और उसके महत्त्व को स्वीकार करते हैं और स्वयं को ऋषियों-मुनियों की उसी उदात्त परंपरा से जुड़ा हुआ साबित करते हैं जिन्होंने दिन-रात मानव कल्याण के लिए चिन्तन किया, कर्म किया। ... यहाँ काल के चक्राकार सिद्धांत से भी ज्यादा कल्पनाशील और बेहतर उपयोग चार युगों-सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलयुग वाली भारतीय अवधारणा का हुआ है।... डॉ. साहब इस चार युगों वाली भारतीय अवधारणा और उनके चक्र के पीछे के इतिहास-दर्शन के बारे में कहते हैं कि इतिहास कर यह दृष्टिकोण उत्थान और पतन, दोनों को मानता है। ... कौमें बुराई के खिलाफ अपनी लड़ाई जीतती हैं, महानता और शक्ति, अच्छाई या सुन्दरता की चोटियों तक पहुँचती हैं और उनकी आत्मा थक जाती है। वे फिर बिखराव और कमजोरी और उद्देश्यहीनता की ओर गिरने लगती हैं...। इसी क्रम में वे वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला और संगीत के माध्यम से इतिहास चक्र बनाने की पश्चिमी कोशिशों का जिक्र भी करते हैं। वे मानते हैं कि ये चीजें भले ही सार्वभौम सच्चाई का बखान न करें पर रैखिक प्रगति वाली अवधारणा से या इतिहास को घटनाओं का लम्बा सिलसिला भर मानने की राय से अच्छी हैं।”

हमें यह खबरें भी तब मिलती थीं कि केवल हिन्दी समाज में ही नहीं, कन्नड़, असमिया आदि भाषाओं के लेखकों-कलाकारों के बीच डॉ. लोहिया का चिन्तन गतिशील है। इस सिलसिले में यू. आर. अनंतमूर्ति, वीरेन्द्रकुमार भट्टाचार्य, लंकेश आदि नामों का भी जिक्र होता था। संस्कार उपन्यास और फिल्म की चर्चा उठती थी, जिन्हें डॉ. लोहिया का समर्थन मिला था।

जाति प्रथा को तोड़ने की मुहिम हो, या स्त्रियों को पुरुषों की ही बराबरी में देखने की, या अभिव्यक्ति की आजादी की लड़ाई का प्रश्न हो, या कलाओं की

स्वायत्तता का, वे एक निर्भीक कर्मठ व्यक्तित्व नजर आते हैं। उनकी जीवन शैली भी कहीं कलाकारों के निकट की ही दिखाई पड़ती है।

एक सतत प्रश्नाकुलता में, कल्पनशीलता में और चीजों के सूक्ष्म निरीक्षण में भी वे मानों कलाकार बिरादरी के ही लगते हैं। लोहिया से मेरा जो परिचय 65 में हुआ, वह प्रगाढ़ होता गया था। उनके कहने पर जन के लिए पुस्तक समीक्षाएँ की थीं, और कुछ लेख भी लिखे थे।

पचास-साठ के दशकों का जो जिक्र हम ऊपर कर आए हैं, उसमें अपनी राजनीतिक गहमागहमी के बीच वे कलाकारों और कला कार्यक्रमों के लिए भी कुछ वक्त तो निकालते ही थे। दिल्ली की धूमिमल दीर्घा में कला-प्रदर्शनी देखने की घटना हो या साहित्य और संगीत नाटक अकादेमी में लेखकों-कलाकारों को ही वरीयता देने का उनका आग्रह हो, हम पाते हैं कि डॉ. लोहिया की राजनीति में साहित्य-संस्कृति-कला के सरोकार निरा औपचारिक न होकर, मानों एक समानधर्मा के ही थे। उनके चिंतन, और लेखन का फलक विस्तृत था और उनके पठन-पाठन की रेंज भी बड़ी थी, और इस फलक और रेंज में बहुत कुछ ऐसा था जो कलाकारों और संस्कृतिकर्मियों को ही नहीं, दुनिया-जहान की तमाम गतिविधियों को स्पर्श करता था। ‘अज्ञेय’ का एक लेख है समग्र परिवेश की राजनीति। इसमें वह एक जगह लिखते हैं, “बिना इस प्रतिज्ञा के आरंभ किए कि संस्कृति और सत्ता की राजनीति दो ध्रुव हैं, यह स्पष्ट किया जा सकता है कि समग्र परिवेश की चिन्ता राजनीति का मानवीयकरण कर देती है, राजनीति के केन्द्र में सत्ता न रहकर मानव प्रतिष्ठित हो जाता है इतना ही नहीं, समग्र परिवेश के विचार से हम अनेक राजनैतिक कामों के प्रति नई विवेक-सम्मत दृष्टि पा लेते हैं।

यह कथन, निश्चय ही, डॉ. राम मनोहर लोहिया जैसे राजनीतिक व्यक्तित्व पर भी बहुत दूर तक लागू होता है।



## गुरु गोविन्द सिंह का युद्ध-दर्शन

डॉ. महीप सिंह\*

शान्ति की कितनी भी कामना क्यों न की जाए, युद्ध मनुष्य की नियति है। इसके बिना वह कभी जिया नहीं, न ही इसके बिना वह कभी जी सकेगा। पश्चिमी देशों में युद्ध के मनोविज्ञान पर बहुत काम किया गया है। हमारे देश में इस दृष्टि से विशेष चिन्तन नहीं हुआ। जो थोड़ा-बहुत हुआ भी, वह गम्भीर विचार या दर्शन के स्तर पर कभी नहीं उभरा। इस देश में भी बड़े-बड़े युद्ध हुए। महाभारत का युद्ध तो मानव इतिहास की अद्वितीय घटना है। शायद उस युद्ध में हुए विनाश का व्याघात इतना प्रबल था कि इस देश की पूरी मानसिकता युद्ध-कर्म से केवल विरत ही नहीं हुई, उससे विरक्त भी अनुभव करने लगी। हमारा सम्पूर्ण चिन्तन आत्मा, परमात्मा, मोक्ष, माया और सृष्टि की उत्पत्ति की गुत्थियों को सुलझाने की ओर मुड़ गया। यह चिन्तन बढ़ते-बढ़ते इस स्थिति तक पहुँचा जहाँ सारा संसार और उसके सभी कार्य-कलाप मिथ्या दिखने लगे, केवल ब्रह्म ही एकमात्र सत्य रह गया।

इस देश में सुगठित होकर युद्ध-दर्शन का विकास न हो पाने का एक प्रमुख कारण यह है कि यहाँ जीवन-मृत्यु की सभी समस्याओं का अन्तर्भेदन व्यक्तिमुखी हुआ, समाजमुखी नहीं। आध्यात्मिक और भौतिक क्षेत्रों के विविध आयामों पर चिन्तन-मनन करते हुए इस देश में अनेक शास्त्रों की रचना हुई, किन्तु युद्ध-दर्शन पर कोई उल्लेखनीय शास्त्र नहीं रचा गया। मनुष्य का इतिहास युद्धों से भरा हुआ इतिहास है। धार्मिक परिवेश में इस कर्म की की भरपूर निन्दा हुई है और मनुष्य को इस कर्म से विरत करने के बहुत-से प्रयास हुए हैं, किन्तु धर्म-क्षेत्र में इस कर्म को मान्यता भी भरपूर प्राप्त हुई और युद्ध-कार्य को कभी धर्मयुद्ध, कभी जिहाद और कभी क्रूसेड के नाम से धार्मिक-नैतिक स्वीकृति निरन्तर मिलती रही है। युद्ध का अपना एक कौशल है, इससे आगे बढ़कर उसका एक पूरा दर्शन है। प्राचीन काल से यहाँ चार पुरुषार्थों की चर्चा होती रही, जिन्हें पुरुषार्थ-चतुष्टय कहा जाता है। ये हैं धर्म, अर्थ,

\* डॉ. महीप सिंह, सम्पर्क-एच-108, शिवाजी पार्क, नई दिल्ली 110026

काम और मोक्ष। यदि ध्यान से देखा जाए तो ये चारों पुरुषार्थ व्यक्ति के निजी जीवन से ही अधिक सम्बन्ध रखते हैं। इनका पूरे समाज, पूरे देश, पूरे राष्ट्र के साथ सम्बन्ध होना आवश्यक नहीं है। किन्तु युद्ध एकांकी संक्रिया न होकर सामूहिक कर्म है। युद्ध-कर्म पूरे समाज के साथ जुड़कर ही पूर्ण होता है। इस देश में धर्म पर बहुत कुछ सोचा और लिखा गया। मोक्ष की कामना से हमारे शास्त्र भरे पड़े हैं। अर्थ और कुटिल राजनीति पर चाणक्य जैसे मनीषी ने बहुत कुछ लिखा। काम की तो यहाँ पूजा होती रही। हमारे अनेक मन्दिरों में निर्मित मिथुन-मूर्तियाँ इस बात का प्रमाण हैं। ऋषि वात्स्यायन का 'कामसूत्र' संसार की बेजोड़ रचना है। परन्तु मुझे ऐसा कोई ग्रन्थ याद नहीं आता, जो युद्ध-कला और युद्ध दर्शन की व्यापकता को समाहित करता हो। इस देश की समाज-व्यवस्था में युद्ध-कर्म, जब वह अनिवार्य हो जाए, समाज के केवल एक वर्ग, क्षत्रियों, तक ही सीमित था। पूरे समाज में यह वर्ग कभी दस प्रतिशत से अधिक नहीं था। इस वर्ग में परम्परा के रूप में शस्त्र-पूजा अवश्य होती थी, किन्तु उसके लिए भी यह मात्र एक रूढ़ि बनकर रह गई थी। संसार के विभिन्न भागों में किस प्रकार के नए अस्त्र-शस्त्र बन रहे हैं, और किस प्रकार उन्हें प्रयोग में लाया जा रहा है, इस विषय में इस देश में कभी गहरी रुचि व्यक्त नहीं की गई।

यह भी सच है कि गीता में कुरुक्षेत्र की समर-भूमि में अर्जुन के मन में युद्ध के प्रति आई हुई विरक्ति को दूर करते हुए श्रीकृष्ण उसे युद्ध के लिए प्रेरित करते हैं और कहते हैं कि यदि धर्मयुक्त युद्ध को नहीं करेगा तो स्वधर्म और कीर्ति को खोकर पाप को प्राप्त होगा

*अथ चेत्त्वमिमं धर्म्य संग्रामं न करिष्यसि*

*ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि*

(अध्याय 2, श्लोक 33)

किन्तु गीता में आई ऐसी उक्तियों के बावजूद युद्धकर्म को उसकी समग्रता में कभी इस देश में गम्भीरता से नहीं लिया गया।

युद्ध एक पूरा दर्शन है, जीवन-दृष्टि है, इस बात को सम्भवतः सबसे पहले गुरु गोविन्द सिंह ने, तीन सौ वर्ष पहले, आत्मसात किया था। उन्होंने अनुभव किया था कि कृपाण हाथ में लेकर युद्धभूमि में जाकर शत्रु से भिड़ जाना ही पर्याप्त नहीं है। यह काम तो इस देश की क्षत्रिय जातियों सदियों से करती आ रही थीं। आवश्यकता यह थी कि युद्ध-कर्म को किस प्रकार लोगों की मानसिकता का हिस्सा बना दिया जाए, उनके लिए यह एक पूरा जीवन-दर्शन बन जाए। सबसे बड़ी बात यह कि इस कर्म में केवल दस प्रतिशत लोगों की नहीं, शत प्रतिशत लोगों की भागीदारी कैसे प्राप्त की जाए।

गुरु गोविन्द सिंह के युद्ध-दर्शन का पहला सूत्र था लोगों के अन्दर सदियों से जड़ जमाए बैठी हीन भावना को दूर करना। उन्होंने निश्चय किया कि वे छोटी समझी जाने वाली जातियों को बड़प्पन देंगे। जिनकी जाति और कुल में कभी सम्मान नहीं आया, सरदारी नहीं आई, ऐसे कीड़े समझे जाने वाले लोगों को मैं शेर बनाऊँगा। इनके सामने तुर्कों के झुंड हाथियों की तरह भागेंगे। इन्हें मैं सरदार बनाऊँगा। तभी मेरा गोविन्द सिंह नाम सार्थक होगा। पंथ प्रकाश के रचयिता के शब्दों में

*जिनकी जाति और कुल माहीं।  
सरदारी नहि भई कदाहीं।  
कीटन तै इनको मृगिंदू।  
करो हरन हित तुरक गजिंदू  
इन ही को सरदार बनावों।  
तबै गोविन्द सिंह नाम सदावों ॥*

यह विचार कर के बैसाखी वाले दिन गुरु गोविन्द सिंह ने खालसा पंथ का निर्माण किया

*इहु विचार कर सतगुरु पंथ खालसा कीन।  
भीरू जातिन के तई अती बड़प्पन दीन॥*

प्राचीन पंथ प्रकाश के रचयिता भाई रतन सिंह भंगू ने अनेक जातियों के नाम गिनाए हैं जो सदियों से राजनीति से दूर थे, जिन्होंने सपने में भी पातशाही के बारे में नहीं सोचा था। ऐसे लोगों को गुरु गोविन्द सिंह ने अपने साथ जोड़ा, इन्हें सिंह बनाया, इनके हाथ में अस्त्र-शस्त्र दिए और इनके मन में यह विश्वास उत्पन्न किया कि वे संसार की बड़ी-से-बड़ी शक्ति से टकराने का दावा कर सकते हैं। यह बहुत बड़ा चमत्कार था। गुरु गोविन्द सिंह ने यह चमत्कार कर दिखाया।

उस समय की समाज-व्यवस्था में यह बात बड़ी अनहोनी जैसी थी। उच्च वर्ण के लोगों ने, यहाँ तक कि उनके सम्बन्धियों ने भी, उनकी इस नीति का विरोध किया था। दशम ग्रन्थ में किन्हीं पंडित केशो राम को उसकी आपत्तियों का उत्तर देते हुए गुरु गोविन्द सिंह ने कहा था मैंने अपने सभी युद्ध इन लोगों की सहायता से ही जीते हैं। मेरे सभी कष्ट इन्हीं की कृपा से दूर हुए हैं। इन्हीं की कृपा से मेरा इतना सम्मान है, नहीं तो मेरे जैसे करोड़ों लोग इस दुनिया में हैं

*युद्ध जिते इनही के प्रसादि इनही के प्रसादि सु दान करे।  
अघ अउघ टरे इनही के प्रसादि इन्हीं की कृपा पुन धाम भरे ॥  
इनही के प्रसादि सु बिदिया लई इनही की कृपा सभ शत्रु मरे।*

*इनही की कृपा तै सजे हम हैं नहि मो सो गरीब करोर परे।*

गरीब और दलित लोगों को इतना सम्मान अपने युग में गुरु गोविन्द सिंह ने ही दिया था। अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए उन्होंने कहा था मुझे इन्हीं की सेवा करना अच्छा लगता है, इन्हीं को दान देना भला लगता है, इन्हीं को दिया हुआ दान ही आगे चलकर फलदायी होगा, शेष तो सब कुछ बहुत फीका है। इसलिए मेरा घर, मेरा तन-मन, सिर और धन सब इन्हीं का है

*सेव करी इनही की भावत अउर की सेव सुहात न जी को।  
दान दयो इनही को भलो अरु आन को दान न लागत नीको।  
आगे फलै इनही को दयो जग में जस अउर दयो सभ फीको।  
मो गृह मो तन से मन ते सिर लउ धन है सब ही इनही को ॥*

गुरु गोविन्द सिंह ने छोटे और हीन समझे जाने वाले लोगों के मन में जिस आत्मविश्वास का संचार किया था, उनमें अपने अधिकारों के प्रति जो जागरूकता उत्पन्न की थी और जिस शोषणविहीन समतावादी समाज की संकल्पना की थी, आधुनिक भारतीय समाज उसे ही प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील दिखता है। तीन सौ वर्ष पूर्व खालसा पंथ के निर्माण की पृष्ठभूमि में यही परिकल्पना कार्य करती दिखाई देती है। इस कार्य के लिए उन्होंने सन् 1699 की बैसाखी के दिन देश-भर में फैले हुए लोगों का एक विशाल सम्मेलन बुलाया और उसमें एक कड़ी परीक्षा द्वारा पाँच व्यक्तियों का चयन किया। इन पाँच व्यक्तियों में एक खत्री, एक जाट, एक धोबी, एक कहार और एक नाई जाति का था। यह भी एक संयोग था और यह कि इनमें एक पंजाबी, एक पश्चिमी उत्तर प्रदेश का, एक गुजराती, एक उड़िया और एक कर्नाटक का था।

गुरु गोविन्द सिंह ने इन्हें पंज प्यारे कहा। इनके नामों के साथ सिंह शब्द जोड़ दिया। इन्हें नया गणवेश दिया। इनकी सहायता से लोहे के कढ़ाव में, लोहे के खंडे के स्पर्श से, गुरुवाणी का पाठ करते हुए और गुरु-पत्नी द्वारा इस जल में मिलाए गए मीठे बताशे से एक अमृत तैयार हुआ।

उस दिन लगभग बीस हजार व्यक्तियों ने इस अमृत का पान किया। इनमें से ऊँच-नीच और बड़े-छोटे की भावना समाप्त हो जाए इसलिए गुरु गोविन्द सिंह ने स्वयं इनके हाथ से लेकर अमृतपान किया। हीनता की ग्रन्थि को नष्ट करने का यह अद्भुत उपाय था कि स्वयं गुरु अपने शिष्यों के सम्मुख अंजुलि फैलाकर घुटनों के बल बैठ गया।

मुगलों के शासनकाल में आम हिन्दुओं को पगड़ी बाँधने, शस्त्र धारण करने और घोड़े पर चढ़ने की अनुमति नहीं थी। गुरु गोविन्द सिंह ने इस शाही हुक्म को

चुनौती देते हुए उन्हें केश रखने, पगड़ी बाँधने, शस्त्र धारण करने और घोड़े पर चढ़ने की आज्ञा दी।

आम लोगों के अन्दर बैठी हुई हीन भावना का एक मुख्य कारण यह भी था कि ये लोग पीढ़ी-दर-पीढ़ी से ऐसे काम कर रहे थे जिन्हें छोटा या हीन कर्म माना जाता था। जो जिस जाति में पैदा हुआ वह पीढ़ी-दर-पीढ़ी वही जाति-कर्म करने को अभिशप्त रहा। गुरु गोविन्द सिंह ने निश्चय किया कि मैं इनकी हीन भावना को दूर करने के लिए इनकी जाति से जुड़े कर्म दूर कर इनका वर्गान्तर कर दूँगा। मैं इन्हें क्षत्रिय कर्म ग्रहण करने की प्रेरणा दूँगा। ये शस्त्रधारी सिंह हो जाएँगे। मैं इन्हें शिकार खेलना सिखा दूँगा और इन्हें जंग करने की शिक्षा दूँगा। पंथ प्रकाश में ज्ञानी ज्ञान सिंह ने इस प्रसंग का उल्लेख करते हुए लिखा है

ताँते इनके जाती करम।  
छुड़वा भरो क्षत्री धरम।  
सिंह नाम शस्त्री जब थैहैं।  
पाण वीर रस की चढ़ जैहैं।  
खेलन इन्हें शिकार सिखाईऐ।  
सिख मत जंग करन की दर्ईऐ।

उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध की इस रचना में एक घटना का उल्लेख किया है। एक दिन गुरु गोविन्द सिंह के सम्मुख कुछ सिखों ने आकर पुकार की कि तुर्क हमें बड़ा दुख देते हैं। आपके लिए हम जो सुन्दर वस्तुएँ और भेंट लेकर आते हैं, मार्ग में हमसे छीन लेते हैं। हममें इतनी सामर्थ्य नहीं कि हम उनसे बच सकें। हे सतगुरु, आप इसका कोई उपाय बताइए

इक दिन संगत आइ पुकारी।  
तुरक देत दुःख हम को भारी।  
सुन्दर वस्तु, आप हित जो है।  
कार भेंट दसबंध जुहो है।  
घर ते संगत लै के आवत।  
मग में तुरक छीन लै जावत।  
नहि इतफाक हमारे में है।  
जिस बल हम उन तै बच जैहे  
करो उपाए सतगुरो सोई।  
जो तुम करयो चहो सो होई ॥

गुरु गोविन्द सिंह ने कहातुम अपने हाथ में शस्त्र लो और उनका सामना

करो।

यह सुनकर वे लोग बड़े अधीर होकर कहने लगेमुगल-पठान बड़े वीर हैं, शस्त्र-विद्या के ज्ञाता हैं। हम तो उनके सामने बालकों की तरह हैं। हम मोठ-बाजरा खाते हैं, वे शराब-कबाब उड़ाते हैं। हम बकरी, चिड़िया, तीतर के समान हैं, वे बाज और भेड़िए की तरह हैं। हम उनसे कैसे लड़ सकते हैं? उन्हें देखकर तो हम थरथर काँपने लगते हैं

सुन सिख बोले होइ अधीर  
मुगल पठानादिक बड़ वीर ॥  
सस्त्र विद्या के सो ज्ञाता।  
हम उन आगे बाल अज्ञाता।  
मोठ बाजरी हम नित खैहै।  
सोऊ शराब-कबाब उड़ै हैं।  
बकरी, चिड़िया, तीतर, सम हम।  
बाज बघयाइन तै सो नहि कम।  
उनसे लड़न तो किम हो है।  
सम्मुख बात आत नहि को है।  
पेख उनै हम थरथर कंपै।  
जो सो चाहित देत हम संपै।

यह सुनकर गुरु गोविन्द सिंह ने सोचा, ये लोग तुर्कों से इतना क्यों डरते हैं। एक तो ये लोग गरीब हैं, दूसरे इनके नाम भी बहुत दबू किस्म के हैं। तीसरे इनकी छोटी जाति का अहसास इनमें हीनता की भावना पैदा करता है। उन्होंने सोचा कि इनसे पुराने जाति-कर्म छुड़वाकर इनमें क्षत्रियों का तेज भरना चाहिए। जब इन्हें 'सिंह' नाम मिलेगा तो इनमें वीर रस का संचार होगा। इन्हें शिकार खेलना चाहिए, इन्हें युद्ध करना आना चाहिए

इह सुन सतगुरु ऐस विचारी।  
एहु दबै रहे उनै अगारी।  
इक तो करम गरीबी के हैं।  
दूसर नाम निकारो से हैं।  
तीसर जाति कमो जट बणीए ॥  
नाई छीबै झीउर गणीए।  
रोड़े खत्री सैणी खाती।  
बणजारे आदिक बख्याती ॥  
ताँते इनके जाती करम।  
छुड़वा भरो क्षत्री धरम।

सिंह नाम शस्त्री जब थैहै  
खेलन इन्हें शिकार सिखईऐ।  
सिख मत जंग करन की दर्ईऐ ॥

उन्होंने यह भी निश्चय किया कि वे बड़े लोगों को छोड़कर नीचे समझे जाने वाले लोगों को मान-सत्कार देंगे, वैसे ही जैसे सोने की अंगूठी बड़ी उँगलियों को छोड़कर छोटी उँगली में पहनाई जाती है

पुन सभ जन की लघु उँगरी  
तज बड़ीअन तिह पावत मुंदरी

गुरु गोविन्द सिंह ने इस प्रकार युद्ध-कर्म को केवल क्षत्रिय वर्ग तक ही सीमित नहीं रखा। इस कार्य में उन्होंने उन वर्गों को भी शामिल कर लिया, जिन्होंने कभी इस बात की कल्पना भी नहीं की थी कि समाज उन्हें योद्धा और वीर सैनिक के रूप में भी देखेगा।

युद्ध एक सामूहिक क्रिया है। वह एकाकी कार्य नहीं है। हमारे देश में जो लोग युद्ध कर्म को अपना जातीय गुण मानते थे, वे भी व्यक्तिगत वीरता को बहुत महत्त्व देते थे। किन्तु इस कार्य में वीरों की नहीं, वीर सैनिकों की आवश्यकता होती है। रणभूमि में व्यक्ति नहीं, सेनाएँ युद्ध करती हैं और अन्त में कोई व्यक्ति, वह कितना ही बड़ा पराक्रमी योद्धा क्यों न हो, विजयी नहीं होता, उसकी सेना विजय प्राप्त करती है। गुरु गोविन्द सिंह ने इस सत्य की पहचान की और अपना ध्यान इस बात पर केन्द्रित किया कि किस प्रकार समाज के सभी वर्गों की भागीदारी प्राप्त करके पराक्रमी सेना का निर्माण किया जाए।

समाज में चाहे जितनी ऊँच-नीच और छुआछूत की भावना हो, एक योद्धा निजी तौर पर चाहे जितना इस भावना से ग्रसित हो, किन्तु सैन्य संचालन में ये बन्धन पूरी तरह त्याज्य होते हैं। सेना में सभी सैनिक सामूहिक रूप में जीते हैं, सामूहिक रूप से खाते-पीते हैं। सामूहिक रूप से प्रशिक्षण लेते हैं और सामूहिक रूप से युद्ध करते हैं।

किन्तु कठोर जाति-नियमों के कारण इस देश में सामूहिक भावना का अभाव था। सुप्रसिद्ध इतिहासकार डा. जदुनाथ सरकार ने अपनी पुस्तक 'मिलिट्री हिस्ट्री ऑफ इण्डिया' में लिखा है कि "हिन्दू धर्म का दर्शन उदात्त हो सकता है, किन्तु वह पूर्ण सामाजिक एकता तथा अनुयायियों की समानता की सीख नहीं देता। जात-पात और छुआछूत की भावना को हिन्दू सैनिक युद्धभूमि में भी अपने साथ रखते थे। पृथ्वीराज चौहान और शहाबुद्दीन गौरी के मध्य हुए युद्ध में राजपूत सेना की हार का एक कारण यह भी था कि शहाबुद्दीन की सेना ने राजपूतों पर बहुत सुबह आक्रमण कर दिया था।

राजपूत युद्ध से पहले भोजन नहीं कर सकते थे। उन्हें भूखे पेट लड़ना पड़ा था। कठोर जाति-नियमों के कारण वे युद्धक्षेत्र में ही कुछ खा-पीकर तरोताजा नहीं हो सकते थे।

पानीपत की तीसरी लड़ाई में अफगानों और मराठों के मध्य हुए युद्ध में भी मराठों की हार का एक कारण यह था कि हर मराठा सैनिक अपने घोड़े की काठी के नीचे अपनी रोटी सेंकने के लिए अपना अलग तवा रखता था और छूआछूत का पूरी तरह पालन करता था।

गुरु गोविन्द सिंह ने इस नीति को पूरी तरह बदल दिया। गुरु नानक के समय से ही सिखों में लंगर की प्रथा द्वारा खान-पान में से सभी प्रकार का भेदभाव नष्ट किया जा चुका था। गुरु गोविन्द सिंह ने पाहुल की प्रथा में सभी सिखों को एक ही पात्र से अमृत पिलाया और स्वयं भी पिया।

सेना में भरती होने वाले प्रत्येक सैनिक को एक सौगन्ध लेनी होती है, जिसमें वह अपने उद्देश्य और आदर्श को दोहराता है। अमृतपान की प्रथा एक सौगन्ध थी, जिसमें दीक्षित होते समय प्रत्येक सिख अपने अन्दर की कुछ रूढ़ मान्यताओं के नष्ट करने की घोषणा करता था। ये थीं धर्मनाश (वर्णाश्रम धर्म से मुक्ति), कर्मनाश (कर्मकांड से मुक्ति), भ्रम (भ्रम) नाश (अंधविश्वासों से मुक्ति), कुलनाश (उच्च कुल या वर्ण में जन्म लेने की भावना से मुक्ति) और कृतनाश (हीन समझे जाने वाले कामों से मुक्ति)।

गुरु गोविन्द सिंह जानते थे कि एक अच्छा सैनिक युद्ध में तभी पूरी तन्मयता और उत्साह से भाग लेता है जब उसे यह विश्वास होता है कि वह किसी महान उद्देश्य की पूर्ति के लिए युद्ध कर रहा है और इस कार्य में ईश्वर उसका सहायक है। इस्लामी दुनिया के 'जिहाद' और ईसाई संसार के 'क्रूसेड' में युद्ध को धर्मभावना के साथ जोड़ा जाता है।

गुरु गोविन्द सिंह ने भी अपने अनुयायियों में यह विश्वास भरा कि वे जो कार्य कर रहे हैं, वह ईश्वरीय कार्य है। 'वाहिगुरु जी का खालसा-वाहिगुरु जी की फतेह' जैसे उद्घोष की पृष्ठभूमि में यही भावना है खालसा वाहिगुरु की रचना है और वाहिगुरु की सदैव विजय होती है। उन्होंने अपनी आत्मकथा 'विचित्र नाटक' में अपने जीवन का मन्तव्य स्पष्ट करते हुए कहा था

धर्म चलावन संत उबारन  
दुस्ट सभन को मूल उपारन  
चाही काज धरा हम जनमं  
समझु लेहु साधू सब मनमं

धर्म की स्थापना, सन्त पुरुषों का उद्धार और दुष्टों का समूल नाश करने के लिए मैंने जन्म लिया है। इसलिए गुरु गोविन्द सिंह के लिए युद्ध केवल एक सामान्य

कर्म नहीं था, वह धर्मयुद्ध था। धर्मयुद्ध की आकांक्षा से प्रेरित होकर ही उन्होंने यह आयोजन किया था। अपनी रचना 'कृष्णावतार' में उन्होंने इस भाव को पूरे आग्रह से स्पष्ट किया था। मैंने भागवत के दशम स्कन्ध को जन-भाषा में अन्य किसी भाव से प्रेरित होकर नहीं लिखा है। हे प्रभु, मेरे मन में तो केवल धर्मयुद्ध का चाव है

*दसम कथा भागौत की भाषा करी बनाइ,  
अवर वासना नाहिं प्रभु धरम जुद्ध को चाइ,*

अपने एक सवैये में उन्होंने लिखा था "जिस परम शक्ति ने सुम्भ-निसुम्भ जैसे करोड़ों निशाचों का क्षण-भर में संहार कर दिया; धूम्रलोचन, चण्ड, मुण्ड और महिषासुर को पल-भर में नष्ट कर दिया; चामर और रक्तबीज जैसे राक्षसों को झटककर दूर फेंक दिया; ऐसे स्वामी का सहारा पाकर भला मुझे किसकी परवाह है

*सुम्भ-निसुम्भ से कोट निसाचर जाहि छिनेक बिखे हनि डारे।  
धूमर लोचन चंड औ मुंड से माहष से पल बीच निवारे ॥  
चामर से रन चिच्छुर से रकतिछन से झट दै झझकारे।  
ऐसो सु साहिबु पाइ कहा परवाह रही इस दास तिहारे।*

अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए गुरु गोविन्द सिंह ने वीर-काव्य का सृजन किया और देश के अनेक भागों से आए अपने दरबार के कवियों से करवाया। उन्होंने प्राचीन ग्रन्थों को जनभाषा में रूपान्तरित किया और करवाया। चंडी, राम, कृष्ण तथा अन्य अवतार-कथाओं की रचना के पीछे उनका एक ही उद्देश्य था कि सदियों से दासता, निर्धनता और उत्पीड़न झेलती हुई जनता में उत्साह और वीरता की ऐसी ज्योति जगाई जाए जिससे वे अन्याय, अत्याचार और नित्य नए आक्रमणों का न केवल सामना कर सकें बल्कि उन्हें रणभूमि में परास्त कर सकें।

इस दृष्टि से दुर्गा की कथा ने उन्हें सबसे अधिक आकर्षित और प्रभावित किया। मार्कण्डेय पुराण में वर्णित चंडी की कथा को उन्होंने तीन बार जनभाषा में लिखा दो बार ब्रज में और एक बार पंजाबी में। अवतार-कथाओं में उन भागों पर विशेष ध्यान दिया जिनमें युद्ध का विशेष वर्णन है। उदाहरण के लिए 'रामवतार' रचना में कुल 864 छन्द हैं। इनमें से 400 से अधिक में केवल युद्ध-चित्रण है।

लोगों में वीर-भाव का निर्माण करने के लिए आम जनता में उन दिनों प्रचलित नामखैराती, फकीरा, घसीटा, निचकू, रुलदू, मंगतू आदि बदलकर उन्हें अजीत सिंह, जुझार सिंह, रणजीत सिंह, रणवीर सिंह, शेर सिंह, जोरावर सिंह, फतेह सिंह जैसे नाम दे दिए। उन्होंने केवल आम लोगों के ही नाम नहीं बदले, वरन् परमात्मा के भी वैष्णव परम्परा वाले कोमल नामहरि, बनवारी, गोपाल, केशव, माधव, वंशीधर, रणछोड़,

रास-बिहारी के स्थान पर काल, महाकाल, सर्वकाल, सर्वलोह, चक्रपाणि, असिपाणि, खड्गकेतु, दुष्टहंता, अरिदमन जैसे युद्ध-प्रकृति के नामों से पुकारा। शस्त्रधारी होना तो ईश्वर का विशेष गुण ही है स्वयं अस्त्र-शस्त्र ही ईश्वर के प्रतीक हैं। शस्त्रों की स्तुति में गुरु गोविन्द सिंह ने 'शस्त्रनाम माला' जैसे ग्रन्थ की रचना की। 'विचित्र नाटक' ग्रन्थ का प्रारम्भ ही वे खड्ग की स्तुति से करते हैं

*नमस्कार स्त्री खड्ग कउ करौ सुहित चित लाइ।  
पूरन करौ गिरंथ इह तुम मोहि करहु सहाइ।*

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि इस देश में साधारणतः सभी विचारों एवं रसों के कवि अपने ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के लिए ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती की स्तुति करते आए हैं और वीणापाणि से ही इस प्रकार का वरदान माँगते रहे हैं। किन्तु गुरु गोविन्द सिंह ने इस कार्य के लिए खड्ग, खड्गपाणि अथवा भगवती का ही स्मरण किया है। एक अन्य छंद में कवि ने कालरूप तेग की स्तुति करते हुए कव्

*खग खंड विहंडं खल दल खंडं अति रण मंडं बरबंडं।  
भुजदंड अखंडं तेज प्रचंडं जोति अमंडं भानु प्रभं ॥  
सुख संता करणं दुरमति दरणं किलबिख हरणं असि सरनं ॥  
जै जै जग कारणं सृष्टि उबारण मम पति पारण जय तेगं ॥*

उनकी दृष्टि में शस्त्र भी शस्त्रधारी काल की भाँति एकरूप एवं निर्विकार है

*नमो खड्ग खंडं कृपाणं कटारं।  
सदा एक रूपं सदा निरविकारं।*

काल के रूप में उन्होंने ईश्वर के वीर रूप और उग्र रूप की प्रतिष्ठा की। डमरू बजाते हुए, फणिधर के समान फुफकारते, बाघ के समान दहाड़ते, दामिनी के समान हँसते, रक्त पीते हुए, अष्टायुध धारण किए, सिंह पर सवार अपनी दाढ़ में सभी को चबाते हुए भयावह रूप का चित्रण उनके साहित्य में अनेक स्थानों पर हुआ है। उदाहरणस्वरूप उनकी रचना 'अकाल स्तुति' में काल का यह रूप द्रष्टव्य है

*डॉवरू डवकै बबर बवकै भुजा फरकै तेज वरं।  
लंकुडिया फाधै आयुध बाँधे सैन विमदेन काल असुरं ॥  
अस्टायुध चमकै भूषण दमकै अति सित झमकै फूक फणं।  
जै जै होसी महिषासुर मर्दन रम्मक पर्दन दैत जिणं ॥*

गुरु गोविन्द सिंह की आत्मकथा 'विचित्र नाटक' से काल के इस रौद्र रूप का



उल्लेख मात्र उदाहरण के लिए प्रस्तुत है, अन्यथा ऐसे रूप-चित्रों का दशम ग्रन्थ में कोई अभाव नहीं है

करं वाम चापियं कृपाणं करालं ।  
महातेज तेजं बिराजै बिसालं ॥  
महादाढ दाढ सु सोहं अपारं ।  
जिनै चरवीयं जीव जग्यं हजारं ॥  
डमा डम्म डमरू सितासेत छत्रं ।  
हहाहूम हासं झमा झम्म अत्रं ॥  
महाघोर सबदं बजै संख ऐसे ।  
प्रलैकाल के काल की ज्वाल जैसे ।

गुरु गोविन्द सिंह के सम्मुख 'काल' के साकार रूप की कल्पना भी अस्त्रयुक्त है। जनता के सम्मुख ईश्वर का वंशी बजाने, गौएं चराने, माखन चुराने का रूप ही प्रमुख था। उन्होंने उसके सम्मुख खड्गपाणि, कृपाणपाणि, बाणपाणि, दंडधारी, चक्रपाणि, असिपाणि, असिध्वज, खड्गकेतु आदि अनेक वीर रूप रखे।

युद्ध का दर्शन मृत्युभय से मुक्त हुए बिना सार्थक नहीं हो सकता। एक सैनिक यदि मृत्यु से डरेगा तो वह सैनिक-कर्म का ठीक से निर्वाह नहीं कर सकता। सच बात तो यह है कि भयमुक्त हुए बिना तो संसार में मात्र जीवित रहने के लिए जो संघर्ष करना पड़ता है वह भी सार्थक रूप से नहीं हो पाता। गुरु नानक ने इस सच को अपनी वाणी में उजागर करते हुए कहा थायदि तुम जीवन-संग्राम रूपी प्रेम का खेल खेलना चाहते हो तो अपने सिर को हथेली पर रखकर मेरे पास आओ। इस मार्ग पर पैर बढ़ाने की शर्त यह है कि बिना किसी दुविधा के सिर अर्पित करना होगा

जउ तउ प्रेम खेलण का चाउ ।

सिरु धरि तली गली मेरी आउ ॥  
इतु मारगि पैर धरीजै ॥  
सिर दीजै काणि न कीजै ॥

पाँचवें गुरु गुरु अर्जुन देव ने भी कहा थापहले मरना स्वीकार कर लो, जीवन की आशा छोड़ दो, सबके पैरों की धूल बन जाओ, तभी मेरे पास आओ

पहिलां मरणि कबूल करि जीवन की छड़ि आस  
होउ सभनि की रेणका तउ आउ हमारे पासि ।

सिख गुरुओं के माध्यम से जिस बलिदानि परम्परा का निर्माण इस देश में हुआ उसमें दस में से तीन गुरुगुरु अर्जुन, गुरु तेगबहादुर और स्वयं गुरु गोविन्द सिंह ने अपने जीवन की आहुति दी। गुरु गोविन्द सिंह के चारों पुत्र भी एक महान उद्देश्य की प्राप्ति के लिए शहीद हो गए। गुरु गोविन्द सिंह के काव्य में ऐसी उक्तियों को कई बार दोहराया गया है जिसमें वे जीवन-संग्राम में युद्ध करते हुए मृत्यु का वरण करना चाहते हैं। 'कृष्णावतार' में वे कहते हैं

अब रीझकै देहु वहै हम कउ जोउ हउ बिनती कर जोर करौं ।  
जब आउ की अउध निदान बनै अति ही रन में तब जूझ मरौं ।

इसी भाव को वे 'चंडी चरित्र' में दोहराते हैं

अरु सिख हौं अपने ही मन को इह लालच हउ गुन तउ उचरौ ।  
जब आव की अउध निदान बनै अति ही रन मै तब जूझ मरौं ।

'कृष्णावतार' में इस भाव को वे इस प्रकार व्यक्त करते हैं

सस्त्रन सिउ अति हीन भीतर जूझ मरौं कहि साच पतीजै ।  
संत सहाइ सदा जग माहि कृपा करि स्याम इहै बरु दीजै ॥

इसी रचना में वे कहते हैं

जूझ मरो रन मै तजि भै तुमते प्रभु स्याम इहै बरु पावै ।

गुरु गोविन्द सिंह ने एक ऐसा युद्ध दर्शन विकसित किया जिससे पीड़ित, दलित और निरीह तथा निरुपाय बना भीरु समाज अपनी कायरता त्याग कर, भयमुक्त होकर रणभूमि में जूझने की आकांक्षा लेकर समाज में फैले हुए छुआछूत, जात-पांत और ऊँच-नील के भाव को तिलांजलि देकर, एक नए प्रकार के अनुशासन में ढलकर अपने समय की संसार की सबसे बड़ी राज-शक्ति को चुनौती देने के लिए उठ खड़ा हुआ। इसी दर्शन का प्रभाव था कि मात्र एक सदी में पूरा परिदृश्य बदल गया। हजारों वर्षों से उत्तर-पश्चिम की ओर से इस देश में अबाध गति से आती हुई आक्रान्ता शक्तियों का मार्ग अवरुद्ध ही नहीं हुआ, बल्कि उन्हें खदेड़कर देश से बाहर निकाल दिया गया। चिन्तन-सृजन, वर्ष-7, अंक-4

## समय के साथ खड़ा : चीन

टी.सी.ए. रंगाचारी\*

दो परस्पर विरोधी परिस्थितियों के साथ समझौता करने में भारत की स्थिति कुछ अजीब तरह की हो गई है। एक ओर जहां एक छोटा पड़ोसी अपने से काफी बड़े और क्षमतावान भारत की सुरक्षा के लिए चिंता का कारण बना हुआ है। वहीं दूसरी ओर अपने अपूर्ण जमीनी दावे के साथ हम लोगों का एक विशाल पड़ोसी खड़ा है जो दक्षिण एशिया के पड़ोसियों के साथ भारत की भूमिका को अभी और भविष्य में सीमित करना चाहता है। इस प्रकार, हम बहुत ही नाजुक अवस्थिति में हैं जिसमें हमें एक तरफ यह सुनिश्चित करना है कि हमारा छोटा पड़ोसी मित्रतापूर्ण ढंग से रहे और हमें उसका सहयोग मिले और साथ ही हमें उन हमलों का सामना करने के लिए भी तैयार रहना है जो कि हमारी भौगोलिक एकता को लेकर बड़े पड़ोसी की तरफ से कभी भी पैदा हो सकती हैं। पहले वाले के लिए जरूरी है कि भारत की सैन्य क्षमता को सीमित रूप में ही प्रदर्शित किया जाय, बल्कि बहुत ही शालीनता से पेश किया जाय जबकि बड़े पड़ोसी के लिए काफी विशाल सैन्य बल, जो कि आक्रामक भी दिखे, की जरूरत है। जो चीज हमारी स्थिति को जटिल बना रही है वह यह है कि हमारा छोटे पड़ोसी अपने आकार की विषमता के कारण न तो एकजुट हो रहे हैं; और न ही इसके अनुरूप अपनी आशाओं और व्यवहार को जोड़ने की इच्छा प्रदर्शित कर रहे हैं। दूसरी ओर बड़ा पड़ोसी पिछले तीस वर्षों में जब से खुले बाजार और सुधार की हवा चली है पिछले साल चीन ने वार्षिकोत्सव मनाया है वृद्धि, सुधार, आधारभूत संरचना, प्रत्यक्ष विदेशी निवेश (एफडीआई), उत्पादन की मात्रा, विदेशी मुद्रा क्षमता तथा नाभिकीय, अंतरिक्ष और सैन्य क्षमता के मामले में चीन भारत से काफी आगे निकल गया है। सकल घरेलू उत्पादन, जीडीपी के मामले में चीन की अर्थव्यवस्था दुनिया में

\* जामिया मिलिया में आचार्य, भारतीय विदेश सेवा के सेवानिवृत्त अधिकारी श्री टी.सी.ए. रंगाचारी के डायलाग 11:1 (July-Sept. 2009) के लेख का अनुवाद। अंग्रेजी से अनुवाद : प्रमोद कुमार तिवारी, 16, अरविन्दो अपार्टमेंट, डीडीए फ्लैट, अधिनी, नई दिल्ली 17;

मो. 9868097199

चौथे नंबर पर पहुंच गई है। आज चीन अपने एक अरब तीस करोड़ लोगों की जनसंख्या को पर्याप्त भोजन उपलब्ध करा रहा है। इसका कृषि एवं औद्योगिक उत्पादन दुनिया में पहले पायदान पर है। बड़े विश्व स्तरीय वैज्ञानिक एवं तकनीक खोज लगातार सामने आ रहे हैं। उच्च स्तरीय एवं नये तकनीक उद्योग प्रभावी ढंग से विकास कर रहे हैं। आधारभूत संरचना के निर्माण, जिसमें कि जल संरक्षण, ऊर्जा, परिवहन एवं दूरसंचार शामिल हैं, में तेज प्रगति हुई है। पिछले कई वर्षों से इनका विकास दर दो अंको में चल रहा है, विदेशी मुद्रा का भंडार दो ट्रिलियन (ट्रिलियन = एक लाख करोड़) डॉलर हो गया है (भारत का 250 (बिलियन = 100 करोड़) बिलियन डॉलर है), एफडीआई के क्षेत्र में उसने कुल मिलाकर 750 बिलियन डॉलर का निवेश आकर्षित किया है (भारत ने कुल 75 बिलियन डॉलर पाया है); उसने अंतरिक्ष की कक्षा में आदमी को पहुंचा दिया है और मानवयुक्त चांद परियोजना पर काम कर रहा है; अपनी एंटी मिसाइल क्षमता का प्रदर्शन किया है और अपनी सैन्य शक्ति को अपनी सीमा से बहुत दूर तक पहुंचाने की क्षमता को प्राप्त कर लिया है। 1978 से 2007 के दौरान इसका कुल द्विपक्षीय व्यापार 20.6 से बढ़कर 2.17 ट्रिलियन डॉलर हो गया है जो कि दुनिया में तीसरे नंबर पर है और विदेशी मुद्रा भंडारण के मामले में यह दुनिया में पहले पायदान पर है। इसके विदेशी निवेश के भुगतान की राशि लगभग 1 ट्रिलियन डॉलर हो गई है। जीडीपी 1978 के 364.5 बिलियन युवान से बढ़कर 2007 में 24.95 ट्रिलियन हो गई है। इस दौरान इसकी औसत वार्षिक वृद्धि दर 9.8 प्रतिशत रही है जो कि इस दौर के दुनिया के औसत से तीन गुना से ज्यादा है। शहरों एवं नगरों के निवासियों की औसत वार्षिक प्रयोज्य आय 1978 के 343 युवान से 6.5 गुना बढ़कर 2007 में 13786 युवान हो गई है। किसानों की औसत वार्षिक आय 1978 के 134 युवान से 6.3 गुना बढ़कर 2007 में 4140 युवान हो गई है। ग्रामीण इलाकों के गरीब लोगों की जनसंख्या 1978 के 250 मिलियन से घटकर 2007 में 14 मिलियन हो गई है। लोग पहले से अमीर हुए हैं, भोजन एवं वस्त्र की सुविधाएं बढ़ी हैं, अब वे बड़े घरों में रह रहे हैं और बेहतर परिवहन सेवा का लुत्फ उठा रहे हैं। अर्थव्यवस्था की कमजोरी ने आर्थिक सुधार से पहले लंबे समय तक चीन को बدهाल बनाए रखा और खुली अर्थव्यवस्था के बाद देश को पूरी तरह से बदल दिया है।

1980 में, चीन ने यह लक्ष्य निर्धारित किया था कि वह अपने जीडीपी को अगले 20 वर्षों में यानी 2000 तक दुगुना कर लेगा। इसने अपना इस लक्ष्य को मात्र 15 वर्षों में हासिल कर लिया और तब अगले पांच वर्षों में 1995 के जीडीपी के दर को दुगुना करने का एक नया लक्ष्य निर्धारित किया और उसे भी प्राप्त कर लिया और तब से इसकी गति कम नहीं हुई है। दो साल पहले 17वें पार्टी कांग्रेस में राष्ट्रपति हू

जिन ताओ ने घोषणा की कि आर्थिक संरचना को बेहतर कर, आर्थिक प्रतिलाभ को सुधार कर, संसाधनों के उपभोग को घटाकर और वातावरण को बचाकर चीन वर्ष 2000 के प्रति व्यक्ति जीडीपी को 2020 तक चार गुना बढ़ा लेगा। सचमुच चीन ने जियाओ पिंग के कथन “धनी होना अद्भुत है” को दिल में बसा लिया है और माओ के अंतिम सत्य “वर्ग संघर्ष ही मूल है” को गैरजरूरी मान लिया है; बाकी कुछ भी महत्वपूर्ण नहीं है।

जैसा कि मैंने ऊपर चीन को काफी आगे बढ़ा हुआ दिखाया, अब मैं चीन के समाज की नीतियों के अंतर्विरोध को दिखाना चाहता हूँ जिसमें एक तरफ अबतक की सबसे तेजी से वृद्धि कर रही सामग्री और लोगों की सामाजिक आवश्यकता और सामाजिक उत्पादन के निम्न स्तर की समस्या आने वाले समय में जारी रहेगी। चीन के वर्तमान विकास ने बहुत सारी नई विशेषताएं प्रदर्शित की हैं। सकल उत्पादन अभी भी निम्न है, स्वतंत्र नवाचार की क्षमता कमजोर है, और स्थायी संरचनागत समस्याओं और वृद्धि के विस्तृत रूप पर मौलिक रूप से ध्यान देना अभी बाकी है। संरचनागत एवं संस्थागत अवरोध विकास को धीमा कर रहे हैं। अभी भी शहरी एवं ग्रामीण दोनों इलाकों में निर्धन एवं अल्प आय वाले लोगों की बड़ी संख्या मौजूद है। कृषि का ढांचा अभी भी कमजोर है और ग्रामीण इलाके विकास में काफी पीछे हैं। चीन में शहरी-ग्रामीण एवं अंतरक्षेत्रीय विकास के बीच जो खाई पैदा हो गई है उसे पाटने के लिए और इन दोनों क्षेत्रों के आर्थिक तथा सामाजिक विकास में जिस संतुलन की जरूरत है उसको पूरा करने के लिए चीन संघर्ष कर रहा है। चीन को आर्थिक वृद्धि यूं ही नहीं मिल गई है, इसके लिए उसे अपने संसाधनों और पर्यावरण की भारी कीमत चुकानी पड़ी है। उसके शहरी एवं ग्रामीण क्षेत्रों के विकास में, विभिन्न क्षेत्रों के स्तर में तथा अर्थव्यवस्था एवं समाज में अभी भी असंतुलन है। कृषि के क्षेत्र में लगातार वृद्धि करना एवं किसानों की आय में लगातार बढ़ोतरी करना बहुत कठिन होगा। अभी भी ऐसी बहुत सारी समस्याएं हैं जिनसे लोगों के प्रत्यक्ष हित जुड़े हुए हैं जैसे कि बेरोजगारी, सामाजिक सुरक्षा, आय वितरण, शिक्षा, जन स्वास्थ्य, आवास, कार्य सुरक्षा, न्याय एवं लोक मांग का प्रशासन; एवं कुछ निम्न आय के लोग, जो कि कठिन जिन्दगी जी रहे हैं।

मानव स्तर पर बात की जाय तो चीन की आधी (भारत की दो तिहाई) जनसंख्या अभी भी गांवों में रहती है जो कि दोनों देशों में लगभग 70 करोड़ है जिनमें से अधिकांश अभी भी गरीब हैं। चीन में, ग्रामीण और शहरी आय अनुपात के बीच की खाई लगातार चौड़ी होती गई है; यह 1980 के मध्य में 1.8 गुना थी, 1990 के मध्य में 2.4 गुना थी, 2001 में 2.9 गुना थी और अब लगभग 3.5 गुना हो गई है। 40 करोड़ लोगों की कुल आय में पिछले एक दशक में कमी आई है। जीडीपी की तुलना में घरेलू खपत में 1980 के दशक से अब तक लगभग 35 प्रतिशत

से 60 प्रतिशत तक की कमी आई है। चीन के लोगों को अपनी बचत और निवेश की किरफायत का बहुत ही कम लाभ मिलता है, जो कि उनकी जीडीपी का लगभग 50 प्रतिशत होता है। चीन में रोजगार के क्षेत्र में मुश्किल से वृद्धि नजर आती है क्योंकि निर्यात केंद्रित वृद्धि हेतु निवेश के लिए भारी पूंजी की जरूरत होती है। वर्ष 2005 में चीन के स्टील उद्योग की अतिरिक्त क्षमता 12 करोड़ टन थी, जो कि दुनिया के दूसरे सबसे बड़े स्टील उत्पादक जापान के वार्षिक उत्पादन से भी अधिक थी। वर्तमान जमा अधिशेष का विशाल उपभोग, बेहतर स्वास्थ्य सुविधा और आधारभूत संरचना हेतु प्रयोग करने के बजाय विदेशी भंडारण हेतु प्रयोग हो रहा है जबकि डॉलर कर्ज पर मामूली लाभ मिल रहा है (अनुमान है कि चीन के भंडारण का 1.4 ट्रिलियन डॉलर अमेरिकी डॉलर के रूप में निवेशित है, जो कि उतना ही है जितना पिछले कई वर्षों में था)। ऐसी हालत में दुर्लभ संसाधनों का सर्वोत्तम उपयोग भीतरी संरचना को मजबूत करने में होना चाहिए।

फिर भी, हमें उनकी सफलता के लिए उन्हें श्रेय देना चाहिए। आइए उनसे सीखें कि उन्होंने अपने लिए क्या अच्छा किया, और अगर संभव हो तो उनकी सफलता का अनुकरण करें। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि अर्जुन सेन गुप्ता समिति की रिपोर्ट के अनुसार भारत के लगभग 65 प्रतिशत लोग किसी भी औसत गरीबी रेखा के नीचे आते हैं। भारत के 68 प्रतिशत लोग न्यूनतम मानक जीवन स्तर के नीचे जीवनयापन करते हैं और 74 प्रतिशत लोग वैश्विक रूप से स्वीकृत गरीबी मानक, 2 डॉलर प्रति व्यक्ति प्रति दिन, से नीचे जीते हैं। यहां तक कि योजना आयोग की भोजन खपत के आधार पर गरीबी रेखाजिसे कुछ लोग भूखमरी रेखा भी कहते हैं तय करने वाली रिपोर्ट के अनुसार 28 प्रतिशत लोग गरीबी/भूखमरी रेखा के नीचे आते हैं। अपनी आर्थिक समस्याओं को सुलझाने में हम चीन से मीलों पीछे हैं और हमें इसके आधार पर राष्ट्रीय नियम बनाने चाहिए।

आधुनिकता और मानकता की कसौटी पर चीन की राष्ट्रीय सुरक्षा सेना और सैन्य विकास खरा उतरता है जो कि हमारे लिए भी चिंतन का विषय होना चाहिए। नये समय के हिसाब से हमें सैन्य रणनीति और नियमों को क्रमशः आधुनिक बनाना चाहिए और ‘चीन की विशेषताओं के साथ आधुनिक सैन्य बल’ का गठन करना चाहिए। सेना को हल्का एवं सक्षम बनाने के लिए जहां उसकी व्यक्तिगत संख्या में कुछ कमी लाई जा सकती है वहीं आधुनिक हथियारों के मामले में भारी सुधार की जरूरत है। सेना एवं हथियारबंद पुलिस इकाइयों को व्यवसाय करने पर प्रतिबंध लगाना चाहिए। चीन यह कहता है कि वह राष्ट्रीय सुरक्षा नीति का पालन करता है जिसकी प्रकृति बचाव की है और यह हथियारों की होड़ में शामिल नहीं है और न ही किसी अन्य देश को अपनी सेना से डराता है; साथ ही यह भी कि चीन अंतरराष्ट्रीय विवादों और नाजुक मसलों के शांतिपूर्ण हल के लिए काम करता है, अंतरराष्ट्रीय एवं

क्षेत्रीय सुरक्षा सहयोग को प्रोत्साहित करता है और किसी भी रूप में आतंकवाद का विरोध करता है। चीन यह भी कहता है कि वह किसी भी प्रकार के वर्चस्व और सत्ता राजनीति का विरोधी है और वह कभी भी वर्चस्व और विस्तार नीति का समर्थन नहीं करेगा।

चीन संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद का स्थायी सदस्य है। वैश्विक राजनीति और अर्थव्यवस्था में इसका महत्वपूर्ण प्रभाव है और इसकी बढ़ती हुई देखकर पूरी दुनिया महसूस कर रही है कि चीन के बढ़ते प्रभाव को वैश्विक स्तर पर और साथ ही द्विपक्षीय स्तर पर समायोजित करने की जरूरत है। अब अमेरिका और चीन के बीच जी-2 की बात होने लगी है। ध्यान दें कि यह केवल खयाली या काल्पनिक समझौता नहीं है। अमेरिका के गंभीर लोगों का यह मानना है कि अगर चीन एक जिम्मेदार साझेदार के रूप में वैश्विक प्रबंधन के तंत्र का हिस्सा बनता है तो यह दुनियाअर्थात् अमेरिका-के हित में होगा। हम भारत के लोगों को इस हालात पर बातचीत करने की जरूरत है। इससे पहले, जब भी अमेरिका और चीन ने अपने हितों को ध्यान में रखकर समझौता किया है, उससे भारत का नुकसान हुआ है। 1971 और 1998 इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। अमेरिका इस बात से आश्वस्त है, हो सकता है, चीन भी हो, कि भारत उनके रास्ते का रोड़ा नहीं बनेगा। क्या हम भारत के मामले में उनके बारे में भी यही कह सकते हैं?

भारत के लिए, चीन के साथ एक अच्छे पड़ोसी वाले सहयोगी संबंध की जरूरत है। भारत-चीन की दोस्ती पर 1940 में जवाहरलाल नेहरू लिखे थे कि “यह दोस्ती सिर्फ इस कारण से हमारे लिए बहुमूल्य नहीं है कि अतीत में हमारे बहुत ही अच्छे संबंध रहे हैं बल्कि यह इसलिए महत्वपूर्ण है कि भविष्य हम दोनों को एक साथ होने का संकेत दे रहा है।” ये दोनों विशाल पड़ोसी, जहां पूरी दुनिया की 2/5 यानी 40 प्रतिशत आबादी रहती है, जो कि दो सबसे तेजी से विकास कर रही अर्थव्यवस्थाएँ हैं, इनका दोस्ताना और सहयोगी संबंध दोनों देशों के साझे हित को मजबूत बनाएगा। भविष्य को लेकर नेहरू के विचार अभी भी प्रासंगिक हैं। इस दृष्टि से भारत के साथ अच्छा संबंध चीन के भी हित में है। वर्ष 2006 में अपनी भारत यात्रा के दौरान चीन के राष्ट्रपति हू जिं ताओ ने इस बात पर बल दिया था कि वे भारत के साथ साझे और उभयनिष्ठ हितों पर आधारित एक मजबूत एवं सहयोगी संबंध के निर्माण की इच्छा रखते हैं और भारत के साथ ‘स्थायी एवं रणनीतिक दूरदृष्टि’ वाला संबंध चाहते हैं। उन्होंने भारत के साथ वर्तमान दौर के संबंध को ‘नई ऐतिहासिक शुरुआत’ बताते हुए अंतरराष्ट्रीय समुदाय को यह संकेत दिया था कि भारत और चीन साझे विकास और स्थायी दोस्ती के लिए एक दूसरे के साथ कंधे से कंधा मिलाकर काम करने की इच्छा रखते हैं। भारत और चीन रणनीतिक और सहकारी साझेदारी व्यवस्था की स्थापना के लिए राजी हो गए; इसके लिए “दससूत्री कार्यक्रम” पर दोनों देश सहमत

हुए। भारत और चीन इस बात के लिए भी तैयार हुए कि वे एशिया और विश्व के स्थायी और समान विकास, ऊर्जा सुरक्षा, शांति और संपन्नता, पर्यावरण संरक्षण और आतंकवाद के खिलाफ संघर्ष तथा सीमा पार अपराधों जैसे वैश्विक मुद्दों के प्रभावी हल के लिए साथ मिल कर काम करेंगे। ये दोनों देश अपने द्विपक्षीय आयामों से कहीं आगे बढ़कर ऐसे संबंधों की राह देख रहे हैं जिसके दम पर ये वैश्विक एवं सामरिक दृष्टि से प्रभावी भूमिका निभा सकें।

परंतु इसके साथ ही हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि इन 60 वर्षों में जब से कि देश जनतंत्र बना है, हमारे संबंध बहुत सारे उतार-चढ़ावों से गुजरे हैं। 1962 के सीमा युद्ध के कारण भारत चीन के साथ अपने संबंधों को लेकर सशंकित रहा जिसे भारतीय हित से जुड़े तमाम मुद्दों पर चीन के नकारात्मक रुख ने बल दिया। यह बात राजनीतिक स्थिति के साथ साथ भौतिक तथा जमीनी स्तर पर भी लागू होती है। हम पिछले साल आईएईए को लेकर चीन के रुख से वाकिफ हैं। इससे पहले 2007 में चीन ने अमेरिका का साथ देकर भारत को दुखी किया था। आपदा प्रबंधन, एंटी पाइरेसी, आर्थिक सहयोग और ऊर्जा आदि के मुद्दे को लेकर भारत, जापान और आस्ट्रेलिया एक होकर काम कर रहे थे, तब इन दोनों देशों ने यह कहते हुए इस बात की आलोचना की थी कि ये देश चीन के विरोध की नीति पर चल रहे हैं और उसके साथ एक विरोधी जैसा बर्ताव कर रहे हैं। चीन के विदेश मंत्रालय ने ये चेतावनी दी थी कि भारत की पूर्वाभिमुख नीति को गहरा झटका लग सकता है क्योंकि ‘क्षेत्र’ इस तरह की ‘विभाजनकारी’ रणनीति को नकार देगा। जुलाई 2009 में भारत के लिए एडीबी की तीनवर्षीय 2.9 बिलियन अमेरिकी डॉलर की सहयोग योजना की मंजूरी का अकेला विरोधी चीन था। चीन का विरोध अरुणाचल प्रदेश की परियोजना से जुड़ा हुआ था। भारत के हित से जुड़े बहुत सारे मुद्दों पर चीन का रुख नकारात्मक रहा है, इससे इस बात का संकेत मिलता है कि चीन अपने हितों को ध्यान में रखकर एक अलग तरह क संबंध की अपेक्षा रखता है।

जहाँ तक जमीन के मुद्दे का सवाल है, तो तिब्बत और दक्षिण पश्चिम चीन को जोड़ते हुए भारत चीन की सीमा 4000 किलोमीटर लंबी है। जिस बात की अक्सर चर्चा की जाती है वह जम्मू कश्मीर को घेरने वाला पश्चिमी क्षेत्र है जिसके 38,000 वर्ग किलोमीटर इलाके पर चीन का कब्जा है जिसे कि भारत अपना बताता है। पूर्वी इलाके के विपरीत इस क्षेत्र में चीन यथापूर्व स्थिति के आधार पर भारत से मान्यता लेकर इस इलाके पर कानूनी अधिकार चाहता है। इसमें पाक अधिकृत कश्मीर के हिस्से का 2000 वर्ग किलोमीटर का वह क्षेत्र भी शामिल है जिसे पाकिस्तान ने चीन को हस्तांतरित किया था। परंतु, पश्चिमी इलाके में भी ऐसे क्षेत्र हैं जहाँ लगातार घुसपैठ हो रही है। इस बात पर गौर किया गया है कि सीमा पर जब किसी प्रकार का तनाव बढ़ता है तो इस प्रकार की घुसपैठ की मात्रा बढ़ जाती है। कारगिल युद्ध के

समय हमारी चीन के साथ कई तनावपूर्ण झड़पें हुई थीं जब चीन ने बार-बार घुसपैठ कर भारतीय सैनिकों को नीचे उतारने के पाकिस्तानी प्रयासों को मदद दी थी। इसी तरह भारत का यह मानना है कि 2003 के समझौते के बाद सिक्किम समस्या खतम हो गई है, फिर भी सिक्किम क्षेत्र के विवाद का दुबारा उठना चिंताजनक है; अरुणाचल का मुद्दा भी कलह का केन्द्र बना हुआ है। भारत-चीन सीमा से जुड़े और भी इलाके हैं जहाँ सीमा का अतिक्रमण चिंता का विषय है।

बिजिंग-ल्हासा रेलवे लाईन, जिस पर कि 2006 में काम शुरू हुआ, ने नई संभावनाएं खोल दी हैं और साथ ही कुछ चुनौतियाँ भी खड़ी कर दी हैं जिनका विश्लेषण करने की जरूरत है। चीन का कहना है कि यह रेलवे लाईन पिछड़े तिब्बत के विकास को प्रोत्साहन देकर देश के पश्चिमी क्षेत्र के विकास को बढ़ावा देगी। तिब्बत का स्वायत्त क्षेत्र 1 ट्रिलियन (125 बिलियन डॉलर) आरएमबी से अधिक की संभाव्य मूल्य के साथ देश का सबसे बड़ा खनिज संसाधन हो सकता है। जिगाजे से पंचेन लामा के पारंपरिक पीठ और तिब्बत की राजधानी ल्हासा तक के 270 किलोमीटर (168 मील) लंबे रेल संपर्क की शुरुआत 2007 में हुई और तीन वर्षों में इसके पूरा होने की संभावना है। इसके बाद रेलवे का विस्तार, जिगाजे से होते हुए पश्चिम की तरफ झांगमू तक, और पूर्व की तरफ नाईगिची से होते हुए दाली तक किया जाएगा। इसके बाद शिगात्से को भारत-चीन सीमा के निकट स्थिति याडंग से रेलवे द्वारा जोड़ने की योजना है। नेपाल के इस निवेदन के बाद कि रेलवे से व्यापार और पर्यटन को बढ़ावा मिलेगा, 25 अप्रैल 2008 को चीन ने क्विंगज़ांग रेलवे को ल्हासा से नेपाल सीमा पर स्थित खाशा तक बढ़ाए जाने के आशय की घोषणा की। विस्तार के निर्माण को 2013 तक पूरा कर लेने की योजना है। रिपोर्ट के अनुसार इस रूट के संभावित स्टेशनों में खाशा, जिगाजे और यातुंग शामिल हो सकते हैं। इस बात की भी अटकल लगाई जा रही है कि हो सकता है कि इसके बाद लाईन को बीरगंज और रक्सौल तक विस्तृत किया जाय; हो सकता है यह भारत चीन सीमा के नाथूला तक पहुँच जाए या फिर यह भी हो सकता है कि अरुणाचल प्रदेश का निन्गची जहाँ भारत चीन और म्यांमार की सीमा है वहाँ तक यह पहुँच जाए।

अगर कोई रेलवे लाईन को शुद्ध रूप से आर्थिक मामलों से जोड़कर देखे तो यह मानेंगे कि इससे आर्थिक सहयोग को भारी मदद मिलेगी। यह नाथूला पोस्ट का पूरक हो सकता है और हर मौसम में परिवहन सुविधा तथा भीतरी एवं अछूते क्षेत्रों को सीमा से जोड़ने की विशेषता के कारण सिक्किम तथा तिब्बत के बीच सीमा व्यापार का प्रमुख केन्द्र बन सकता है। अगर हम इसकी तुलना उत्तरांचल के लिपुलेख और हिमाचल प्रदेश के शिपकी ला से करें जहाँ कि सीमा तक पहुँचने के लिए ढंग की सड़क तक नहीं है जिसके कारण साल के बस कुछ ही महिनों में व्यापार हो पाता है जब मौसम अच्छा होता है तो यह सामान ढोने के लिए सहज परिवहन सुविधा

मुहैया कराएगा।

जबकि चीन तिब्बत क्षेत्र के विकास के लिए नई संभावनाएँ खोल रहा है और परिवहन जुड़ाव की बढ़ती नेपाल और भारत के साथ सीमा पार व्यापार को बढ़ावा दे रहा है, यह योजना तब तक पूरी तरह सफल नहीं हो सकती जब तक कि भारत की तरफ से भी इसी तरह के परिवहन तंत्र का निर्माण नहीं हो जाता। आजादी के 60 वर्ष और 1962 के द्वंद्व के 45 वर्ष बीत जाने के बावजूद आज भी भारत के सीमावर्ती क्षेत्र विकास और सीमा प्रबंधन की दृष्टि से एकदम पिछड़े हैं। उदाहरण के रूप में हम चीन को देख सकते हैं, जिसने अत्यंत ऊँचे क्षेत्रों में आक्सीजन की फैक्ट्रियाँ स्थापित की हैं ताकि निर्माण कार्य के दौरान अत्यंत ऊँचे क्षेत्रों में भी कर्मचारी सफलता पूर्वक अपने काम को पूरा कर सकें। अगर वे लगातार काम करते रहेंगे तो वे उन ऊँचे क्षेत्रों में पर्यावरण और प्रशिक्षण की कठिनाइयों को कम कर सकेंगे जिसका लाभ केवल कर्मचारियों को ही नहीं बल्कि सैनिकों को भी मिलेगा।

अभी यह साफ नहीं है कि चीनी लोग तिब्बत रेल परिवहन के माध्यम से मानव एवं पदार्थ संसाधनों के परिवहन की, तथा साथ ही सैन्य बल को स्थापित करने की, जो भारी क्षमता अर्जित करने वाले हैं उसका हमारे लिए क्या अर्थ है। मगर यह तय है कि अगर इसी तरह के परिवहन का विकास हम सीमा के अपने क्षेत्र में नहीं करते हैं तो निश्चित रूप से आने वाले वर्षों में चीन के साथ बराबरी की बातचीत करने में भारत खुद को बहुत ही कमजोर महसूस करेगा। हमारे ज्यादातर सीमावर्ती क्षेत्र अभी सड़क मार्ग से भी नहीं जुड़े हैं, हाल के दिनों में इन्हें रेल से जोड़ने की भी कोई योजना नहीं है और पूर्वोत्तर क्षेत्र की सारी राजधानियाँ सीधे हवाई मार्ग से भी नहीं जुड़ी हैं। संपर्क की इस कमी के कारण इन क्षेत्रों के विकास में आने वाली बाधाएँ सभी जानते हैं। हमारी सीमा की सुविधाओं का आलम यह है कि हर साल कैलास और मानसरोवर की यात्रा करने वाले श्रद्धालुओं को अत्यंत अस्वास्थ्यकर पहाड़ी क्षेत्रों की लंबी दूरी पैदल तय करनी पड़ती है और लिपुलेख दर्रे को पार करने के बाद चीनी बसें उन्हें ले जाने के लिए इन्तजार करती मिलती हैं।

नदी जल संसाधन से जुड़े कई मुद्दे भी महत्वपूर्ण हैं। हम चीन के साथ अपने निम्न (उद्गम) नदी तटीय क्षेत्रों (हमें उच्च नदी तटीय क्षेत्रों के मामले में पाकिस्तान और बांग्लादेश से वार्ता का अनुभव है) का समझौता कैसे करते हैं यह बड़ा सवाल है? अगर अपने विकासात्मक कार्यों को ध्यान में रखकर चीन, तिब्बत/नेपाल के विकास के लिए नेपाल की जल शक्ति क्षमता का उपयोग करना शुरू करता है जबकि तिब्बत तक उसने रेल पहुँचा दिया है तो हमारे लिए क्या विकल्प होंगे? अभी तक नेपाल के लिए भारत मजबूरी का विकल्प था पर क्या अब वह व्यापारिक हिस्सेदार के रूप में चीन का विकल्प चुनेगा?

हाल के समय में भारत की जनसंख्या, अशिक्षा, गरीबी और प्रशासन की



समस्याओं को बढ़ाने में हमारे पड़ोसियों की बड़ी भूमिका रही है। इस इलाके के पड़ोसी संस्थान एवं तंत्र विकसित कर पाने में अक्षम रहे हैं। यहाँ तक कि भारत में जहाँ इस तरह का विकास हुआ है, यहाँ भी भारी समस्याएं मौजूद हैं। हम क्षेत्रीय विभिन्नताओं को लेकर लगातार जूझ रहे हैं और एक दूसरे का भरोसा और विश्वास पाने में और उन्हें एकजुट करने में लगे हुए हैं। दक्षिण एशिया का सबसे बड़ा राष्ट्र होने के कारण पड़ोसियों का उचित प्रबंधन करने की भारी जिम्मेदारी भारत के उपर है। सचमुच, अपने पड़ोसियों की क्षेत्रीय स्थिरता और विकास के लिए भारत को बड़े उद्देश्यों को ध्यान में रखकर काम करना चाहिए। अगर दक्षिण एशिया को क्षेत्रीय एकता के मामले में यूरोप जैसा बनना है तो इस क्षेत्र का सबसे बड़ा देश होने के कारण भारत को नेतृत्व संभालना होगा और अपने पड़ोसियों की विकास संबंधी समस्याओं को अपनी समस्या समझकर इनकी तर्कसंगत जिम्मेदारियों को स्वीकार करना होगा। हो सकता है इस कल्पना को अमली जामा पहनाने में थोड़ा समय लगे। परंतु अगर हम अपने पड़ोस को व्यवस्थित रखने में असफल रहते हैं तो हमें यह उम्मीद नहीं करनी चाहिए कि दूसरे लोग हमारे बीच सिर्फ इसलिए हस्तक्षेप करना छोड़ देंगे कि हमने उनसे ऐसा करने के लिए कहा है, खासकर के तब जब कि बहुत से लोग इसके लिए आंख गड़ाए बैठे हैं।

## प्रेमचन्द की रूसी क्रान्ति पर लिखी अचर्चित कहानी-‘कैदी’

डॉ. कमल किशोर गोयनका\*

प्रेमचन्द अपने समय के एकमात्र ऐसे कहानीकार हैं जिन्होंने अन्य देशों के पात्रों को लेकर कहानियाँ लिखीं और उनके कथ्य, पात्र एवं उद्देश्य का उपयोग अपने देश के लिए किया। यह आश्चर्यजनक स्थिति है कि अभी तक प्रेमचन्द की इस प्रतिभा और सर्जनात्मकता की चर्चा किसी ने नहीं की और ऐसी कहानियाँ या तो अचर्चित रह गईं अथवा उनकी व्याख्या इस विदेशी परिस्थितियों एवं मन्तव्यों के बिना ही कर दी गई। हमारे वामपंथी आलोचकों ने जब उनकी पाँच-छः कहानियों तक अलोचना का दायरा सीमित कर दिया हो तो उसका ऐसा ही परिणाम होना था। इन वामपंथियों का लक्ष्य राजनीतिक था और वे साहित्य का उपयोग भी मार्क्सवाद की स्थापना के लिए कर रहे थे, पर दुःख इसका भी है कि प्रेमचन्द के अन्य आलोचकों एवं शोधार्थियों ने इन वामपंथी आलोचकों की कूपमण्डूकता को चुनौती नहीं दी और वे कुकुरमुत्ते की तरह फलते-फूलते रहे।

प्रेमचन्द के प्रथम उर्दू कहानी-संग्रह ‘सोजेवतन’ (प्रथम संस्करण, जून, 1908) में पाँच कहानियाँ संकलित हैं जिनमें चार कहानियाँ विदेशी पात्रों के जीवन पर आधारित हैं। ये कहानियाँ हैं ‘दुनिया का सबसे अनमोल रतन’ (हिन्दी में भी यही शीर्षक है), ‘शेख मखमूर’, (हिन्दी में यही शीर्षक है), ‘यही मेरा वतन है’ (यही मेरी मातृभूमि है), ‘इश्के दुनिया और हुब्बे वतन’ (हिन्दी में शीर्षक है) सांसारिक प्रेम और देशप्रेम। इसके दूसरे संस्करण (सन् 1929) में ‘सैरे दरवेश’ (हिन्दी में ‘शाप’) उर्दू कहानी भी सम्मिलित कर ली गई। इनमें पाँच कहानियाँ विदेशी पात्रों एवं वहाँ की परिस्थितियों और समस्याओं पर आधारित हैं और यह निश्चय ही विचारणीय प्रश्न है कि प्रेमचन्द ने विदेशी कथा एवं पात्रों से कहानी के क्षेत्र में प्रवेश क्यों किया? इसका

\* ए-98, अशोक विहार, फेज प्रथम, दिल्ली-110052, मो.-98110-52469

कारण अंग्रेजी सरकार का दमन और कठोर प्रेस नियम ही हो सकते हैं, क्योंकि विदेशी कथाओं पर आधारित कहानियों का संग्रह 'सोजेवतन' अंग्रेजी सेंसरशिप से नहीं बच सका और पुस्तक जब्त कर ली गई। ये कहानियाँ ईरान, अमेरिका, इटली, इंग्लैण्ड, बर्लिन आदि देशों से सम्बन्धित हैं और इनमें देश-प्रेम और स्वाधीनता का स्वर प्रमुख है। पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' के दिसम्बर, 1908 के अंक में 'सोजेवतन' के बारे में लिखा था "इन्हें पढ़कर स्वदेश-भक्ति का पवित्र भाव हृदय में अंकुरित हो जाता है। आजकल ऐसे किस्सों की बड़ी आवश्यकता है।" प्रेमचन्द अंग्रेजी दासता से मुक्ति के लिए जनता में देश-प्रेम की लहर उत्पन्न करना चाहते थे। उन्होंने 'सोजेवतन' की भूमिका में लिखा था कि "साहित्य का पहला दौर 'आशिकाना गजलों' ता 'चन्द फहहाश किस्सों' (अश्लील कहानियों) का था, दूसरा दौर नये-पुराने विचारों के संघर्ष और सांस्कृतिक सुधार का था, और अब बुद्धिमत्ता से जीने का एक और नया कदम बढ़ाया है और वह है देश-प्रेम की भावनाओं का। अब देश-प्रेम की भावनाएँ लोगों के दिलों में उभरने लगी हैं और ये कहानियाँ उसी प्रभाव का परिणाम हैं। हमारे मुल्क को ऐसी किताबों की सख्त जरूरत है, जो नई नस्ल के जिगर पर हुब्बे-वतन (देश-प्रेम) की अजमत (महिमा) का नक्शा जमाये।" स्पष्ट है कि प्रेमचन्द विदेशी कथाओं और पात्रों के क्रिया-कलापों में अपने समय के भारत को आकांक्षाओं और लक्ष्यों को तलाश कर रहे थे और अंग्रेज इस चालाकी को समझकर उन्हें 'राजद्रोह' के लिए दंडित कर रहे थे।

इसके बाद प्रेमचन्द ने अपना नाम बदलकर प्रेमचंद रखा और शुद्ध देशभक्ति के स्थान पर समाज की समस्याओं को कहानियों का केन्द्र बनाया, परन्तु वे आगे चलकर भी विदेशी कथा-प्रसंगों पर कहानी लिखते रहे। उनकी 'नवी का नीति निर्वाह' ('सरस्वती', मार्च, 1924, यह कहानी 'न्याय' नाम से भी प्रकाशित हुई) अरब के हजरत मुहम्मद साहब पर आधारित है, दूसरी कहानी 'शूद्रा', 'चाँद', जनवरी, 1926) मॉरिशस के प्रवासी हिन्दुओं के जीवन पर है तथा 'कैदी' कहानी ('हंस' जुलाई, 1933) रूस की वोल्शेविक क्रान्ति पर आधारित है। इनमें 'शूद्रा' कहानी मॉरिशस में बड़ी चर्चित रही और उसका नाट्य-रूप भी तैयार किया गया। यह स्वाभाविक था, क्योंकि 'शूद्रा' उनके ही पूर्वजों की कहानी थी जिसमें भारतीय स्त्री के गौरव की रक्षा की गई थी, पर आश्चर्य इसका है कि प्रेमचन्द की कहानी 'कैदी' क्यों अचर्चित रही, जबकि वह रूस के जार के अत्याचारों और वोल्शेविक क्रान्ति पर लिखी गई थी। यह एकदम अविश्वसनीय होगा यदि यह माना जाए कि शिवदान सिंह चौहान, रामविलास शर्मा, अमृतराय, नामवर सिंह, शिवकुमार मिश्र आदि विख्यात मार्क्सवादी आलोचकों ने यह कहानी नहीं पढ़ी होगी, क्योंकि यह कहानी 'मानसरोवर'-2 में संकलित है और कोई भी आलोचक 'मानसरोवर' की कहानियों को पढ़े बिना आलोचना-कर्म में लग नहीं सकता। ये सभी आलोचक प्रेमचन्द के हिन्दू पात्रों की कहानियों में मार्क्सवाद

ढूढ़ते हैं और उन्हें मार्क्सवादी घोषित करते हैं, परन्तु मार्क्सवाद के गढ़ एवं लेनिन की वोल्शेविक खूनी क्रान्ति पर लिखी कहानी 'कैदी' की ओर वे देखना भी नहीं चाहते। इस दुहरे चेहरे की ईमानदारी पर आप क्या टिप्पणी करेंगे? यह और भी आश्चर्य की बात है कि वर्षों तक मास्को में रहने वाले मार्क्सवादी लेखक मदनलाल 'मधु' ने सन् 1980 में प्रगति प्रकाशन, मास्को से प्रकाशित अपनी पुस्तक 'गोर्की और प्रेमचन्द : दो अमर प्रतिभाएँ' में भी इस कहानी की चर्चा नहीं की है तथा सन् 2000 में डॉ. फणीश सिंह की पुस्तक 'प्रेमचन्द एव गोर्की का कथा साहित्य' में भी इस कहानी की उपेक्षा की गई है। इसी प्रकार शचीरानी गुर्तू की पुस्तक 'प्रेमचन्द' और गोर्की (सन् 1955) में भी इस कहानी का उल्लेख नहीं है। अभिप्राय यह है कि इस कहानी में अवश्य ऐसा कुछ है जो रूस की खूनी वोल्शेविक क्रान्ति के प्रतिकूल है और हमारे वामपंथी लेखक उस ओर देखना भी नहीं चाहते।

यहाँ 'कैदी' कहानी की कथावस्तु की चर्चा से पहले उन सन्दर्भों को देखना आवश्यक है जिनमें प्रेमचन्द ने रूस की खूनी क्रान्ति, उसके स्वरूप, अनुकूलता एवं प्रतिकूलता एवं भविष्य आदि की चर्चा की है, क्योंकि इस कहानी को समझने के लिए उनके वोल्शेविक दर्शन को समझना आवश्यक है। प्रेमचन्द ने सबसे पहले अपने उर्दू लेख 'पुराना जमाना: नया जमाना' ('जमाना' उर्दू मासिक, फरवरी, 1919) में रूसी क्रान्ति का उल्लेख किया है और लिखा है कि आने वाला जमाना जनता का है। रूस में हुए इन्कलाब ने सिद्ध कर दिया है कि रूसी जनता में कितनी ताकत छिपी हुई थी। इसके बाद 21 दिसम्बर, 1919 को दयानारायण निगम को लिखे पत्र में उन्होंने स्पष्ट लिखा कि मैं अब करीब-करीब बाल्शेविस्ट उसूलों का कायल हो गया हूँ, परन्तु उनकी यह आत्म-स्वीकृति क्षणिक ही सिद्ध हुई। इसके कई कारण थे। एक तो यह कि उन तक कम्युनिस्ट साहित्य तथा रूसी क्रान्ति के परिणामों की सूचनाएँ पहुँच रही थीं और उनका आलोचनात्मक दृष्टिकोण उत्पन्न हो रहा था। काशी विद्यापीठ में रहते हुए प्रो. राजाराम शास्त्री ने उन्हें सिडनी वेव की प्रसिद्ध पुस्तक 'कम्युनिज्म' लाकर दी थी और उन्होंने उसे आद्योपांत पढ़ा था। दूसरे डॉ. सम्पूर्णानन्द, आचार्य नरेन्द्रदेव आदि के नेतृत्व में जो सोशलिस्ट आन्दोलन विकसित हो रहा था, उसे वे बड़ी निकटता से देख रहे थे और उन्हें स्पष्ट होता जा रहा था कि भारत के साम्यवादियों की करनी और कथनी में जमीन-आसमान का अन्तर है। अपनी कहानी 'हार की जीत' ('मर्यादा', मई, 1922) में उन्होंने दो साम्यवादी युवकों को पात्र बनाया और उसकी नायिका लज्जावती से इनमें से एक के लिए कहलवाया : "तुम्हारा कॉलेज की शीतल छाया में पला साम्यवाद बहुत दिनों तक सांसारिक जीवन की लू और लपट को न सह सकेगा।" इस कहानी के पात्र 'धन की अवहेलना' नहीं कर पाते और साम्यवाद जीवन में उतर नहीं पाता। 'प्रेमाश्रम' उपन्यास का पात्र ज्ञानशंकर योरप के साम्यवादियों के बारे में कहता है, "मैं योरप के कितने ही साम्यवादियों को जातना हूँ जो अमीरों की

भाँति रहते हैं, मोटरों पर सैर करते हैं। और साल में छः महीने इटली या फ्रांस में विहार करते हैं। जब वे अपने को साम्यवादी कह सकते हैं तो कोई कारण नहीं कि हम इस अस्वाभाविक नीति पर जान दें।” इसी उपन्यास में प्रेमचन्द ने प्रेमशंकर नामक पात्र की सृष्टि की है जिसे वे ‘व्यावहारिक साम्यवादी’ कहते हैं, पर वह रूस से नहीं अमेरिका से पढ़कर आता है और कर्म, समता, हृदय-परिवर्तन, ग्राम-विकास आदि पर जोर देता है। प्रेमशंकर इस पर भी कहता है कि मैं ‘सोशललिस्ट’ या ‘डिमोक्रेट’ कुछ नहीं हूँ। मैं केवल न्याय और धर्म का दीन सेवक हूँ। प्रेमचन्द ‘रंगभूमि’ उपन्यास में साम्यवादियों पर व्यंग्य करते हैं। वे प्रभुसेवक के बारे में लिखते हैं कि ‘प्रभुसेवक और कितने ही विलास-भोगियों की भाँति सिद्धान्त रूप से जनवाद के कायल थे।...साम्यवाद उनके लिए मनोरंजन का विषय था, विनय के बारे में भी वे ऐसा ही कहते हैं। वे लिखते हैं, “गाड़ी में बैठते ही उनका साम्यवाद स्वार्थ का रूप धारण कर लेता था।” प्रेमचन्द अपने उपन्यास ‘गोदान’ में भी प्रो. मेहता के द्वारा साम्यवादियों की कटु ओलचना कराते हैं। रायसाहब के मित्रों के बीच ‘साम्यवाद पर एक प्रकार से बहस ही हो जाती है और प्रो. मेहता ‘समता’ को ‘अप्राकृतिक’ मानते हुए कहते हैं कि बुद्धि, चरित्र, रूप और प्रतिभा में ‘सामाजिक विषमता’ सदैव विद्यमान रहेगी। प्रो. मेहता इस वाद-विवाद में कहते हैं, “मुझे उन लोगों से जरा भी हमदर्दी नहीं है, जो बातें तो करते हैं कम्युनिस्टों की-सी, मगर जीवन है रईसों का-सा, उतना ही विलासमय, उतना ही स्वार्थ से भरा हुआ।...मैं तो केवल इतना जानता हूँ हम या तो साम्यवादी हैं या नहीं। हैं तो उसका व्यवहार करें, नहीं हैं, तो बकना छोड़ दें। मैं नकली जिन्दगी का विरोधी हूँ।...आप रूस की मिसाल देंगे! वहाँ इसके सिवाय और क्या है कि मिल के मालिक ने राजकर्मचारी का रूप ले लिया है। बुद्धि तब भी राज करती थी, अब भी करती है और हमेशा ‘करेगी’।<sup>1</sup>

प्रेमचन्द ने इसी प्रकार अपने लेखों, पत्रों, इन्टरव्यूओं आदि में भी छद्म कम्युनिज्म की आलोचना की है तथा स्पष्ट कहा है कि खूनी क्रान्ति में उनका विश्वास नहीं है और जो भी परिवर्तन हो वह जबर्दस्ती नहीं प्रेम से हो। वे एक स्थान पर स्वयं को ‘सोशललिस्ट विचारों का आदमी’<sup>2</sup> कहते हैं। और इसे स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि ‘सोशललिस्ट केवल मनोवृत्ति का नाम नहीं, जीवन के एक विशेष व्यावहारिक आदमी का नाम होना चाहिए। साम्यवादी और असाम्यवादी के जीवन में कुछ तो ऐसा अन्तर होना चाहिए जिससे मालूम हो सके कि समाज की इस व्यवस्था से असन्तुष्ट हैं।<sup>3</sup> वे बम्बई में मराठी लेखक श्री रा. टिकेकर को दिए इन्टरव्यू में स्वयं को कम्युनिस्ट कहते हैं और अपने ‘कम्युनिज्म’ को गाँधी, इंग्लैण्ड और रूसी कम्युनिज्म से भिन्न बताते हैं। वे कहते हैं “मैं कम्युनिस्ट हूँ, मगर मेरा कम्युनिज्म बिल्कुल भिन्न प्रकार का है।...हमारे समाज में जमींदार साहूकार, यह किसान का शोषण करने वाला समाज बिल्कुल रहेगा ही नहीं।”<sup>4</sup> अर्थात् प्रेमचन्द बोल्शेविकों की खूनी क्रान्ति के समर्थक नहीं हैं और

वे कई स्थलों पर इसका स्पष्ट विरोध करते हैं। वे ‘हंस’ जून, 1931 में लिखते हैं कि महात्मा गाँधी क्रान्ति नहीं चाहते हैं और न क्रान्ति से आज तक किसी जाति का उद्धार हुआ है। महात्मा जी ने हमें जो मार्ग बतलाया है, उसमें क्रान्ति की भी भीषणता के बिना ही क्रान्ति के लाभ प्राप्त हो सकते हैं।<sup>5</sup> इसके बाद ‘जागरण’ के 19 दिसम्बर, 1932 के अंक में वे लिखते हैं, “हम श्रेणियों में संघर्ष नहीं चाहते हैं।”<sup>6</sup> ‘हंस’ अगस्त, 1933 में वे फिर लिखते हैं, “लाल क्रान्ति तो हम भी नहीं चाहते।”<sup>7</sup> प्रेमचन्द रूसी क्रान्ति के दुष्परिणामों को भी देख रहे हैं और इसी कारण वे इन्द्रनाथ मदान को 26 दिसम्बर, 1934 को लिखे पत्र में कहते हैं, “कहना सन्देहास्पद है कि क्रान्ति से हम कहाँ पहुँचेंगे। यह हो सकता है कि हम उसके जरिए और भी बुरी डिक्टेरशिप पर पहुँचें जिसमें रंच मात्र व्यक्ति-स्वाधीनता न हो। मैं रंग-ढंग सब बदल लेना चाहता हूँ, पर ध्वंस नहीं करना चाहता।”<sup>8</sup> वे अन्तिम समय तक महात्मा गाँधी के साथ हैं, उनकी अहिंसा और हृदय-परिवर्तन एवं प्रेम-दर्शन के पूरे समर्थक हैं। वे 4 जनवरी 1935 के अंको में मराठी पत्रिका ‘प्रतिभा’ में छपे एक इन्टरव्यू में कहते हैं कि महात्माजी जिस प्रकार कहते हैं, उस प्रकार ‘चेंज ऑफ हार्ट’ पर मेरा जोर है। यह मेरा मत है कि जबर्दस्ती से किसी भी प्रकार का परिवर्तन लाने के बजाय प्रेम से ही यह परिवर्तन होना चाहिए।<sup>9</sup>

प्रेमचन्द के इन विचारों से स्पष्ट है कि वे अपने अन्तिम समय तक मार्क्सवाद और उसके रक्तिम क्रान्ति के दर्शन के समर्थन नहीं बन सके। वे बोल्शेविक क्रान्ति का उल्लेख करते हैं तथा यदा-कदा स्वयं को ‘कम्युनिस्ट’ भी कहते हैं, पर यह ध्यान रहे कि वे ‘रूसी कम्युनिज्म’ की जगह अपना ‘कम्युनिज्म’ बनाना चाहते हैं। और उनके इस ‘कम्युनिज्म’ पर गाँधी के हृदय परिवर्तन, प्रेम-दर्शन, अहिंसा, किसानों का विकास, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता आदि का गहरा प्रभाव है। इससे स्पष्ट है कि वे रूस के मिथक को गाँधी-दर्शन में ढालकर उसे भारतीय बनाकर उसका प्रयोग करते हैं। उन्होंने कहीं भी ‘मार्क्सवाद’ का समर्थन नहीं किया, लेकिन वे स्वयं को गाँधी का ‘चेला’ मानते रहे। प्रेमचन्द जब गाँधी के प्रशंसक थे, तब रूसी और भारतीय कम्युनिस्ट उन्हें गालियाँ दे रहे थे। प्रेमचन्द यहाँ भी व्यवस्था के स्थान पर व्यक्ति के संस्कार और स्वतन्त्रता को महत्त्व दे रहे थे। कम्युनिस्टों के लिए व्यवस्था प्रधान थी और उसके लिए असंख्य लोगों का बलिदान किया जा सकता था, परन्तु प्रेमचन्द भारतीय दर्शन और गाँधी के विचारों के अनुरूप ‘व्यक्ति’ के संस्कार और उत्कर्ष को प्रमुखता दे रहे थे। उन्होंने 26 दिसम्बर, 1934 को इन्द्रनाथ मदान को लिखे पत्र में स्पष्ट लिखा कि “लोगों का चरण ही निर्णायक तत्त्व है। कोई समाज-व्यवस्था नहीं पनप सकती जब तक कि हम व्यक्तिशः उन्नत न हों।” उनका सम्पूर्ण साहित्य व्यक्ति के इसी संस्कार और उत्कर्ष पर टिका है। यही कारण है कि वे रूसी क्रान्ति के स्थान पर भारतीय क्रान्ति को अपनाते हैं, जो उनके शब्दों में ‘अपनी खोयी आत्मा’, ‘अपने

त्याग, सरलता और आदर्शवाद' को वापस लाना चाहती है तथा पश्चिम के संघर्ष और स्वार्थवाद के स्थान पर 'सहयोग और सहृदयता' को स्थापित करना चाहती है।<sup>10</sup> यही कारण है कि प्रेमचन्द सारा जीवन 'संघर्ष' के राजनीतिक दर्शन का कभी समर्थन नहीं कर पाए, जबकि मार्क्सवादी आलोचक डॉ. रामविलास शर्मा तथा अन्य प्रतिष्ठित आलोचक यही स्थापित करते रहे हैं कि संघर्ष ही उनके साहित्य का मूल तत्त्व है।<sup>11</sup> खेद है, ये मार्क्सवादी आलोचक यह नहीं देखते कि प्रेमचंद संघर्ष के दर्शन के ही विरुद्ध हैं। वे 'जागरण' के 3 एवं 10 अप्रैल, 1933 के अंकों में लिखते हैं कि संघर्ष पशुता का लक्षण है, सहयोग मानवता का। हमें उत्तरोत्तर पशुता से मानवता की ओर जाना चाहिए था, लेकिन संग्राम के इस सिद्धान्त ने उस पशुता को एक नई शक्ति प्रदान कर दी है और उसी का फल है कि आज हम भू-मण्डल पर संघर्ष की दुहाई सुन रहे हैं। यही कारण है कि उनके सम्पूर्ण साहित्य में रूस की वोल्शेविक क्रान्ति जैसा संघर्ष कहीं नहीं मिलेगा।

हिन्दी के मार्क्सवादी आलोचकों ने प्रेमचन्द के रूस-दर्शन को कुछ इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि वे भारत में भी रूसी जैसी खूनी क्रान्ति चाहते थे और वे कम्युनिज्म को सभी समस्याओं का हल समझते थे। इस स्थापना से उनके राजनीतिक स्वार्थ तो पूरे हुए, लेकिन उन्होंने प्रेमचन्द की इस गलत मूर्ति का निर्माण कर उनके प्रति घोर अन्याय किया। रूस के सम्बन्ध में उनकी धारणाएँ क्रमशः टूट रही थीं और वे स्पष्ट समझ रहे थे कि वे भ्रम में थे। रूस की वोल्शेविक क्रान्ति उनके विचारानुसार 'बेजवानों' की मुक्ति की क्रान्ति थी, लेकिन 22 मई, 1933 के जागरण में वे लिख रहे थे कि 'साम्राज्य विरोधी रूस' भी 'विचार का साम्राज्य' चाहता है। इस प्रकार सारे जमाने को 'सोवियेत' बनाने में यही 'साम्राज्य-लिप्सा' विद्यमान है।<sup>12</sup> वे रूस की इस 'साम्राज्य-लिप्सा' के विरोधी थे। प्रेमचन्द ने यद्यपि 'स्टालिन' की प्रशंसा की<sup>13</sup> और वे आशावान थे कि बोलशेविज्म का सुधरा रूप बचा रहेगा<sup>14</sup>, लेकिन सन् 1934 के आरम्भ में ही ज्ञात हो गया कि वे भ्रम में थे। उन्होंने 'जागरण' के 23 अप्रैल, 1934 के अंको में इसी भ्रम को स्वीकार करते हुए लिखा, "हम समझ रहे थे कि कम-से-कम रूस एक ऐसा देश है जिसने पूँजीवाद पर विजय पाई है और अपने देश में एक नई समाज-व्यवस्था कायम कर दी है, लेकिन मालूम होता है कि हम भ्रम में थे।<sup>15</sup> इतनी स्पष्ट-स्वीकृति उन्होंने गाँधीवाद के सम्बन्ध में कभी नहीं की और ऐसी भविष्यवाणी भी नहीं की कि 'कम्युनिज्म और फासिज्म' जब प्रजाहित से हट जायेंगे तब जनता उसे समाप्त करके नई व्यवस्था उत्पन्न कर लेगी। उन्होंने 'जागरण' के 21 अगस्त, 1933 के अंक में इसी भविष्यवाणी का उल्लेख करते हुए लिखा, 'कम्युनिज्म और फासिज्म का आधिपत्य इसलिए नहीं है कि उनके पीछे सैनिक शक्ति है, बल्कि इसलिए कि वे प्रजाहित को ही अपना आधार बनाए हुए हैं। ज्योंही वे इस आदर्श से गिर जाएँगे, जनता फिर चंचल हो जाएगी और फिर किसी दूसरी तरह इस समस्या को हल करने

की चेष्टा करेगी।"<sup>16</sup> इस प्रकार प्रेमचन्द अपने देहान्त से पहले ही रूस की खूनी क्रान्ति, उसकी साम्राज्य-वादी नीति और कम्युनिज्म के वास्तविक चरित्र को समझ गए थे और निस्संकोच स्वीकार कर रहे थे कि वे रूस की रीति-नीति एवं सर्वहारा-दर्शन के सम्बन्ध में जो समझ रहे थे, वह भ्रमपूर्ण था। हमारे मार्क्सवादी लेखक प्रेमचन्द के इस कम्युनिष्ट-दर्शन को नहीं देखते और यदि देखते भी होंगे तो उन्हें अपने प्रतिकूल पाकर अचर्चित ही छोड़ देंगे।

प्रेमचन्द के इन विचारों के सन्दर्भ और पृष्ठभूमि में ही उनकी उपेक्षणीय कहानी 'कैदी' को ठीक प्रकार से समझा जा सकता है। 'कैदी' कहानी 'हंस' के जुलाई, 1933 के अंक में छपी थी, अर्थात् मार्क्सवादी आलोचकों के विचारानुसार यह उनका प्रौढ़काल था और अब तक वे गाँधीवाद के मोह से मुक्त होकर कम्युनिस्ट-दर्शन के समर्थक बन गए थे, पर यह कहानी एक दूसरी ही कहानी कहती है। 'कैदी' कहानी रूप में जार के शासन-काल की कहानी है जब लेनिन के नेतृत्व में 'राष्ट्रवादियों' ने 'राजनीतिक संघर्ष' छेड़ा हुआ था। मास्को में रहने वाले युवक आइवन और युवती हेलेन परस्पर सामंजस्य न होने पर भी प्रेम-सूत्र में बँध गए और विवाह का निर्णय करते-करते राष्ट्रवादियों के संग्राम में सम्मिलित हो गए। जार के प्रतिनिधि उक्रायेन प्रान्त के सूबेदार (गवर्नर) रोमनाफ ने भयानक अत्याचार मचा रखा था और सम्पादकों तक को राजद्रोह में दंडित करके साइबेरिया भिजवा रहा था। जनता ने विरोध किया तो मार्शल-लॉ लगाकर उसका दमन कर दिया। हेलेन इस अत्याचार से बहुत विशुद्ध हुई और उसने आइवन से उसकी हत्या करने का प्रस्ताव किया। हेलेन का कथन था कि रोमनाफ किसी मायाविनी युवती से प्रेम में असफल होने के कारण इतना भयानक दमन कर रहा है। उसके हृदय में युवती के मधुर प्रेम और मुस्कान का जूद भरना होगा और इसके लिए वह प्रस्ताव करती है कि वह रोमनाफ को अपने प्रेम-जाल में फँसायेगी और एक निश्चित समय और स्थान पर आइवन आकर अपने रिवाल्वर से उसकी हत्या कर देगा। आइवन एकदम 'हत्या' के इस 'अमानुषीय कृत्य' के लिए तैयार नहीं हुआ, परन्तु अपनी प्रेमिका हेलेन की 'आत्मा' में देश की दुर्दशा की 'विकलता' देखकर वह तैयार हो जाता है और हेलेन को 'प्रेम के अभिनय' में सब कुछ करने की छूट भी दे देता है, क्योंकि वह मातना है कि 'विश्वास प्रेम की पहली सीढ़ी है।'

हेलेन ने योजनानुसार रोमनाफ को अपने प्रेम-जाल में फँस लिया और शहर में पुलिस के अत्याचार भी कम हो गए। आखिर रोमनाफ की हत्या का दिन आ गया। हेलेन और रोमनाफ बाग में बैठे बातचीत कर रहे थे। रोमनाफ ने माना कि हेलेन के प्रेम के कारण उसकी दमन-नीति बदल गई है और जार के मंत्री भी उसे सन्देह-दृष्टि से देख रहे हैं। इसी बीच आइवन प्रकट हुआ और उसने रिवाल्वर से गोली दागी, पर रोमनाफ ने उसे पकड़ लिया और चारों ओर से तरह-तरह की पुलिस ने आकर उसे

घेर लिया और गिरफ्तार कर लिया। हेलेन अब एकदम बदल गई और झूठ बोली कि उसे अनुमान न था कि आइवन 'क्रान्तिकारी' हो गया है दूसरे दिन आइवन पर मुकदमा चला और उसकी प्रेमिका हेलेन सरकारी गवाह बन गई। आइवन को चौदह साल की सजा हुई। प्रेमिका की इस गद्दारी ने उसे अंधेरी दुनिया में धकेल दिया।

आइवन सजा काटकर 'ओखोटस्क जेल' से निकला तो हेलेन के प्रति उसके मन में हिंसा-भाव था। वह हेलेन से मिलकर अपनी यातना और उसकी गद्दारी का चित्र खींचना चाहता था। वह हेलेन से कहना चाहता था कि 'राष्ट्र की सेवा का बीड़ा' उठाने पर भी तुम 'कुटिल काम-लिप्सा' में बह गईं और मेरे साथ विश्वाघात किया। अधिकार और समृद्धि के पहले ही टुकड़े पर तुम दुम हिलाती टूट पड़ीं। धिक्कार है तुम्हारी भोग-लिप्सा और तुम्हारे कुत्सित जीवन को। इसी सोच-विचार में वह जब रोमनाफ के भवन पर पहुँचा तो हेलेन की अर्थी निकलने की तैयार हो रही थी। वह उसकी अर्थी के पास क्रोध में अपशब्द बोलने लगा तो रोमनाफ ने उसे पहचान लिया। रोमनाफ ने आइवन को बताया कि हेलेन हमेशा तुम्हारे लिए स्वयं को 'अपराधिनी' मानती रही और तुमसे 'क्षमा चाहती रही। यह 'क्षमा' ही उसकी अन्तिम अमिलाषा थी। रोमनाफ उसे अर्थी के पास ले गया और उसक निस्पन्द एवं निर्विकार चेहरा दिखाया। आइवन हेलेन के प्रेम में भाव-विह्वल हो उठा और उसने ईश्वर से उसे क्षमा करने की प्रार्थना की। उसने उसका ताबूत कंधे पर रखा तो वह अपनी 'संकीर्णता', उद्धिग्नता और नीचता' पर लज्जित था। वह रात-भर उसकी कब्र पर रोता रहा और जब दूसरे दिन रोमनाफ फातिहा पढ़ने आया तो उसने देखा कि आइवन सिजदे में सिर झुकाए है और वह मर चुका है।

इस प्रकार 'कैदी' कहानी जार कालीन शासन-व्यवस्था और उसे समाप्त करने की कम्युनिस्टों के हिंसक कार्यों को एक नए परप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करती है। रूस में जार का दमन चक्र फैला हुआ था। और रोमनाफ जैसे गवर्नर देशद्रोहियों को साइबेरिया भेज रहे थे। प्रेमचन्द रोमनाफ की दमन-नीति में एक नए कारण की कल्पना करते हैं और वह यह है कि उसे किसी युवती का प्रेम नहीं मिला है। यह एक ऐसी मनोवैज्ञानिक स्थिति है जिस पर प्रेमचन्द ने अपनी कहानी की रचना की है। क्रान्ति और हिंसामय राजनीति की अनुयायी हेलेन भी यही मानती है कि रोमनाफ की दमन-नीति का कारण है कि किसी के मायाविनी प्रेम में असफल होकर उसके हृदय का रस- स्रोत सूख गया है और वह अपने प्रेम से इस रस का संचार कर सकती है। वह जो यह तर्क देती है, वह लेनिन की खूनी क्रान्ति के विरुद्ध है, लेकिन प्रेमचन्द उसका उपयोग कथा और चरित्र के विकास के लिए करते हैं और इसकी चिन्ता नहीं करते कि लेनिन और उनके कामरेड जार के अत्याचारों के बारे में क्या सोचते हैं। रूस में कम्युनिस्टों की जार की लड़ाई सर्वहारा की समान्तशाही से लड़ाई थी, परन्तु प्रेमचन्द 'कैदी' कहानी में यह लड़ाई प्रेम और प्रेमहीनता के बीच कराते हैं। हेलेन

अपनी योजनानुसार गवर्नर रोमनाफ को अपने प्रेम-जाल में फँसा लेती है और इस तरह जार के प्रतिनिधि गवर्नर के दिल में सोया प्रेम जाग जाता है और जनता पर उसके अत्याचार कम होने लगते हैं। यह हिंसा पर प्रेम की जीत है। रोमनाफ हेलेन से कहता भी है, "मैं तो समझता हूँ, उस दिन तुम मेरे सौभाग्य की देवी बनकर आई थीं, नहीं तो अब तक मैंने न-जाने क्या-क्या अत्याचार किए होते। इस उदार नीति के वातावरण ने जो शुभ परिवर्तन कर दिया, उस पर मुझे स्वयं आश्चर्य हो रहा है। महीनों के दमन ने जो कुछ न कर पाया था। वह दिलों के आश्वासन ने पूरा कर दिखाया है।"<sup>17</sup>

इस प्रकार प्रेमचन्द हिंसा पर प्रेम की जीत दिखाते हैं और उसे कहानी का केन्द्रीय तत्त्व बनाकर अन्य कथा-प्रसंगों को भी उससे जोड़ देते हैं। हेलेन तो हत्या की योजना के अन्तर्गत जार के गवर्नर रोमनाफ से प्रेम का नाटक करती है, परन्तु वह उससे वास्तविक रूप से प्रेम करने लगती है और वह भी इस हद तक कि अपने प्रेमी आइवन के गिरफ्तार होने पर वह उसके विरुद्ध गवाही देकर गवर्नर रोमनाफ से शादी कर लेती है। हेलेन के इस परिवर्तन में प्रेमचन्द एक और महत्वपूर्ण तथ्य को स्पष्ट करते हैं कि रूसी क्रान्ति के दौरान एक युवती कामरेड अपने साथी एवं प्रेमी कामरेड को धोखा देकर विश्वाघात करती है और अपने शत्रु गवर्नर से विवाह कर लेती है और सर्वहारा क्रान्ति स्वहित क्रान्ति में बदल जाती है। इस प्रकार प्रेमचन्द हेलेन के चरित्र का दो स्तरों पर उपयोग करते हैं तथा हिंसा पर प्रेम की विजय के साथ रूसी क्रान्ति के सर्वहारा विरोधी प्रवृत्ति का उद्घाटन करते हैं।

'कैदी' कहानी के अन्त में लेखक फिर हिंसक-भाव पर प्रेम एवं क्षमा की विजय दिखाते हैं। आइवन चौदह वर्ष की कठोर सजा के बाद हेलेन के विश्वाघात का बदला लेने के लिए व्याकुल हो उठता है और वह हिंसा-भाव के साथ गवर्नर रोमनाफ के घर पहुँचता है। वह क्रोधित मुद्रा में है और उसकी लाश तक को अपशब्द कहता है। परन्तु रोमनाफ से हेलेन के अपराध-बोध और क्षमा-याचना की अन्तिम आकांक्षा जानकार वह उसके प्रेम की स्मृति में बह जाता है और उसकी आँखों में 'एक दिव्य ज्योति-सी चमक' उठती है उसका सारा हिंसा-भाव हेलेन के प्रेम में विलीन हो जाता है तथा वह उसकी कब्र पर रोता रहता है। दूसरे दिन जब रोमनाफ हेलेन की कब्र पर फातिहा पढ़ने जाता है तो आइवन मर चुका होता है। इस प्रकार प्रेमचन्द ने इस बार कामरेड आइवन के हिंसक मनोवेग को प्रेम में बदल दिया तथा वह हेलेन के प्रेम में इतना डूब गया कि प्रेमिका की कब्र पर उसने अपना बलिदान कर दिया।

'कैदी' कहानी हिंसा पर प्रेम की जीत की कहानी है और प्रेमचन्द की इस धारणा की भी कि हिंसा से बुराई का प्रतिकार नहीं किया जा सकता। रूस के विख्यात साहित्यकार टाल्स्टाय भी अपने यौवल-काल में इसी निष्कर्ष पर पहुँचे थे। रोमा रोलाँ ने 'टाल्स्टाय की जीवनी' में लिखा है कि टाल्स्टाय उन्नीस वर्ष की अवस्था में जब



बीमार हुए तो कजान के एक अस्पताल में उनकी एक बौद्ध लामा से भेंट हुई और उन्हें उससे बौद्धधर्म के इस सार का ज्ञान हुआ कि हिंसा से बुराई का प्रतिकार नहीं किया जाना चाहिए। प्रेमचन्द इसी प्रेम-दर्शन के कारण टाल्टाय और गाँधी से जुड़े और सम्भवतः इसी कारण रूस की खूनी क्रान्ति का समर्थन नहीं कर पाए। गाँधी की अहिंसा, सविनय अवज्ञा एवं असहयोग, समता, लोक-कल्याण आदि को अपनाते हुए परिवर्तन का मन्त्र बनाया और जमींदारों, सामन्तों एवं शासकों का हृदय-परिवर्तन करके उन्हें भी जीवित रहने का अधिकार दिया। प्रेमचंद इसी कारण अपने प्रसिद्ध लेख 'पुराना जमाना: नया जमाना' में प्राचीन भारत में विद्यमान साहिष्णुता, उदारता, अहिंसा आदि की प्रशंसा करते हैं और लिखते हैं कि वह युग आज से अधिक प्रकाशवान था जिसमें रावण की लंका में राम-भक्त विभीषण और कौरवों के दरबार में पांडव समर्थक विदुर रह सकते थे। वे इस लेख में रूसी क्रान्ति से बेजवानों को मिली बोलने की ताकत का समर्थन करते हैं, परन्तु यह भी कहते हैं कि इस नए जमाने में सहिष्णुता, नम्रता, सदाचार, प्रेम, लज्जा जैसे गुण उपेक्षणीय हो गए हैं। प्रेमचन्द प्राचीन भारत के इन्हीं मानवीय गुणों के अनुयायी और प्रवक्ता बने और गाँधी के इसीलिए चले बने कि वे भी इन्हीं गुणों से स्वतन्त्रता प्राप्त करना चाहते थे। प्रेमचन्द समझते थे कि मनुष्य और समाज को केवल प्रेम, सहिष्णुता, उदारता आदि गुणों से ही स्थायी रूप से बदला जा सकता है। यही कारण है कि उनके साहित्य में असंख्य ऐसे उदाहरण मिलेंगे जहाँ प्रेम, सेवा, त्याग, बलिदान, सहिष्णुता, उदारता आदि गुणों से परिस्थितियों तथा पात्रों की मनोवृत्तियों को परिवर्तित कर दिया गया है तथा एक स्वस्थ मनुष्य एवं समाज का निर्माण हो सका है। इसके विपरीत उनके साहित्य में एक भी ऐसा उदाहरण नहीं मिलेगा जहाँ हिंसा अथवा रक्तिम क्रान्ति से स्थिति या पात्र को बदला गया हो अथवा उससे किसी ऐसी सामाजिक व्यवस्था की सृष्टि की गई हो जिसमें मनुष्य, अत्याचार, अनाचार, शोषण एवं भेदभाव के बिना रह सकता हो। 'कैदी' कहानी इस प्रकार अनेक दृष्टियों से अर्थवान कहानी है जो प्रेमचन्द के कम्युनिष्ट-दर्शन को रूसी प्रसंग में स्पष्ट करने के साथ मानवीय गुणों एवं मूल्यों के प्रति उनकी प्रतिबद्धता को भी उद्घटित करती है। यह कहानी मनुष्य को और एक हिंसक दर्शन को हिंसा और हत्या की कैद से मुक्त करके प्रेम के मानवीय संसार में ले जाती है जहाँ व्यक्ति दूसरे ही हत्या न करके अपना बलिदान कर देता है। प्रेमचन्द इन्ही गुणों से कहानी के तीनों पात्रों को ऊँचा उठा देते हैं तथ उनके उत्कर्ष एवं परिष्कार से कहानी भी सार्थक बन जाती है। यह प्रेमचन्द का आदर्शवाद ही है जो उन्हें मनुष्य के सद्गुणों के प्रति आस्थावान बनाता है और कहानी के पाठक को भी कि मानवीय गुण और मानवीय मूल्य ही उसे श्रेष्ठ मनुष्य बना सकते हैं। 'कैदी'

कहानी इसका भी प्रमाण है कि रूसी क्रान्ति से ठीक पहले लेनिन के कामरेडों के छल-कपट, धोखाधड़ी, स्वार्थपरता और हिंसक मनोवृत्ति को वह बरीकी से देख रहे थे और यह ठीक-ठीक समझ रहे थे कि ऐसे कामरेडों के भारतीय अनुयायियों को सत्ता सौंपने का कोई खतरा नहीं उठाया जा सकता। उनका कामरेडों के जीवन और दर्शन की इस गहारी पर इतना विश्वास था कि वे 'कैदी' कहानी लिखकर जैसे पूरे देश को सावधान कर रहे थे।

## संदर्भ

1. 'गोदान' पृष्ठ 52-55
2. 'चिट्ठी-पत्री'-2, 'भारत' सम्पादक को लिखे पत्र से, पृष्ठ 256
3. 'प्रेमचन्द का अप्राप्य साहित्य, खण्ड-2, पृष्ठ 493; 'जागरण', 28 मई, 1934 में प्रकाशित लेख से
4. वही पृष्ठ 314
5. विविधि प्रसंग-3, पृष्ठ 78
6. विविधि प्रसंग-2, पृष्ठ 487
7. विविधि प्रसंग-3, पृष्ठ 217
8. चिट्ठी-पत्री-2, पृष्ठ 237
9. 'प्रेमचन्द का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-1, पृष्ठ 313
10. 'हंस', दिसम्बर, 1931, 'विविध-प्रसंग-3, पृ. 200 पर संकलित
11. डॉ. रामविलास शर्मा ने अपनी पुस्तक 'प्रेमचन्द और उनका युग' संस्करण 1989 के पृष्ठ 190-268 में मेरे विचार की विस्तृत विवेचना की और निष्कर्ष दिया है 'गोयनका 'भारतीयता के नाम पर संघर्ष वाला साहित्य बाहर करना चाहते हैं।'
12. 'विविध-प्रसंग'-3, पृ. 315
13. 'विविध-प्रसंग'-2, पृ. 338 एवं 326
14. वही, पृ. 279
15. वही, पृ. 342
16. 'विविध-प्रसंग'-3, पृ. 198
17. 'मानसरोवर', खण्ड-2, पृ. 89

## बृहद्नेपाल की बृहद् गाथा

ए.सी. सिन्हा\*

वर्तमान, दशक नेपाल के लिए अस्थिरता का दशक रहा है। सरकारें बनती हैं और शीघ्र ही उनका विरोध और प्रतिरोध होने लगता है। विभिन्न दलों के घटक परस्पर विरोधी बयानबाजी करते हैं। कभी-कभी इन दलों के कर्णधार दिल्ली की तरफ दौड़ते हैं: सलाह-मशवरे होते हैं। समझौतों की बातें होती हैं। सरकारी की गाड़ी आगे खिसकती है। परन्तु प्रतिरोध और विरोध चलते रहते हैं। स्वाभाविक है कि ऐसी स्थिति में प्रशासन प्रायः ढप्प है। अराजकता बढ़ती जा रही है। विकासकार्य रुके पड़े हैं। आवागमन के साधन क्षत-विक्षत अवस्था में हैं। राजशाही का अन्त तो हुआ, परन्तु जनतंत्र की प्रसवपीड़ा समाप्त नहीं हुई। अपने निकम्पेपन और नपुंसकता को छिपाने के क्रम में नेपाल का एक मुखर राजकीय तबका भारत विरोधी बयानबाजी करते नहीं थकता। जब-जब नेपाल में राजकीय अस्थिरता उभरती है उसके कुछ नेताओं को भारत के तथा-कथित विस्तारवाद की याद आती है भारतीय समाचार पत्रों के अनुसार (यथा The Asian age, January 11 and January 17, 2010) नेपाल की संयुक्त साम्यवादी पार्टी (माओवादी) ने सुदूर पश्चिमोत्तर के कालापानी, कंचनपुर, बराज, और दक्षिणी तराई के नवलपरासी के 'सस्ता जंगलों' में तथाकथित भारतीय अतिक्रमण के विरुद्ध प्रदर्शन करने का निर्णय लिया। भारतीय विदेश मन्त्री श्री एस. एम कृष्णन ने अपने तीन दिवसीय नेपाल यात्रा के क्रम में माओवादी नेता और पूर्व प्रधानमंत्री पुष्प कमल दहाल 'प्रचंड' से उनके दल द्वारा आधारहीन आरोप मढ़ने पर भारतीय संघ की क्षुब्धता व्यक्त की। प्रायः देखा गया है कि नेपाल का एक अधिकचरा प्रबुद्ध वर्ग अपने तथा-कथित भारतीय विस्तारवाद के विरोध की आड़ में महानेपाल या बृहद्नेपाल का सपना पालता रहा है। ऐसे लोगों की मान्यता रही है कि हिमाचल प्रदेश से सिक्किम तक का हिमालयी क्षेत्र नेपाल के रहे थे और भारतीय संघ ने उन क्षेत्रों पर

\* प्रो. ए.सी. सिन्हा, भूतपूर्व अध्यक्ष, समाजविज्ञान संकाय, पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय, शिलांग-793022; सम्पर्क : डी 7/7331, बसन्त कुन्ज, नई दिल्ली-110070

अनधिकृत कब्जा जमा रखा है। यही नहीं, उनका यह नैतिक दायित्व है कि उन क्षेत्रों को भारतीय संघ से पुनः प्राप्त करें। पिछले तीन-चार दशकों से नेपाल में महानेपाल की बातें उठती रही हैं। आखिर इस विचार या नारे के पीछे की वास्तविकता क्या है?

### महानेपाल की ऐतिहासिकता

प्रायः 'नेपाल' शब्द 'नेवार' (नेपाल या काठमांडु घाटी की एक प्रजाति विशेष) का पर्याय माना जाता है और उसका तात्पर्य काठमांडु-घाटी से ही रहा है। आज से आठ दशक पूर्व आजका नेपाल गोरखा राज्य, उसकी भाषा गोरखाली या खाशकुरा और नेपाल नरेश गोरखा नरेश के रूप में जाने जाते थे। प्राचीन काल में यहाँ किरात समूह की गणजातियाँ जीवन-यापन करती थीं। यों तो गौतम बुद्ध, बौद्धधर्म और सम्राट अशोक को भारत और नेपाल में बाँटना जरा कठिन है परन्तु ऐतिहासिकता तो यह है कि नेपाल का तराई क्षेत्र और उत्तर भारत का इतिहास, भूगोल और प्रजातियाँ एक दूसरे में घुलीमिली हैं। कालांतर में दक्षिण-पूर्वी नेपाल मिथिला का क्षेत्र रहा है। पश्चिमी नेपाल उत्तरांचल की खश प्रजातियों से जुड़ा था। मुगल काल की अवन्ति के समय आधुनिक नेपाल में 'चौबीसी', बाइसी और (काठमांडू घाटी के) मल्लवंशी प्रायः चार दर्जन छोटे-बड़े रजवाड़े थे। 'गोरखा' उनमें एक छोटा-सा राज्य था, जिसका एक प्रशासक, पृथ्वी नारायण (1728-1775), पराक्रमी, दूरदर्शी और युद्ध कौशल का धनी था। उसने एक लड़ाकू, शक्तिशाली और महान नेपाल के निर्माण के क्रम में विभिन्न रजवाड़ों को परास्त कर एक केन्द्रीकृत गोरखा राज्य की स्थापना काठमांडू में की। अपने नवजात पराक्रम की वैधानिता के पक्ष में उसने नाम मात्र के तत्कालीन मुगल बादशाह से 'शाह' की पदवी प्राप्त की। उसने अपने सभासदों की काजी, दीवान, सुब्बा, राय आदि नामकरणों से आलंकृत किया। पृथ्वीनारायण शाह ने मुगल प्रशासित भारत को 'मुगलान' (मुगलों और कालांतर में अंग्रेजों द्वारा दूषित) तथा नेपाल को 'असल हिन्दुस्तान' बताकर उसे चार वर्षों और 36 जातियों की फुलवारी की संज्ञा दी। उसकी मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारियों ने अगले तीन दशकों में गोरख राज्य की सीमा पश्चिम में सतलज नदी से लेकर पूरब से तीस्ता नदी तक फैला दी। इस गोरखा विस्तारवाद की टक्कर भारत में औपनिवेशिक अंग्रेजी राज्य से 1813 में हुई।

कहते हैं कि काफी कठिनाई के बाद अंग्रेजी सेना गोरखाओं को परास्त कर पाई। कालांतर में 2 दिसम्बर, 1815 को गोरखाराज्य और अंग्रेजों के बीच सुगौली की संधि हुई, जिसके अनुसार गोरखा नरेश को 105,000 वर्ग किलोमीटर के विजित क्षेत्रों को खाली करना पड़ा और गोरखा राज्य की सीमा 140 हजार किलोमीटर में सिमटकर रह गई। फलस्वरूप उन्हें पश्चिम में गढ़वाल और कुमायूँ, दक्षिण में अवध के तराई वाले जनपद और पूरब में मेची नदी से पूरब का सिक्किमी भाग अंग्रेजों को सौंपना

पड़ा। परन्तु स्मरणीय है कि गढ़वाल में 11 साल (1804-1814) कुमाँयू में 25 साल, और सिक्किम में मात्र 33 साल गोरखा राज्य का वर्चस्व रहा। गोरखा सेना इन क्षेत्रों में काफी अपयश छोड़ गई थी। इन क्षेत्रों में गोरखा सेना श्रद्धा के साथ नहीं, अपितु अत्याचारी के रूप में याद की जाती है। फिर भी नेपाल के एक वर्ग के मानसिक पटल पर फोर्ट कांगड़ा, 'मलाना', 'नालापानी', 'जोराथांग' आदि स्थानों पर, जहाँ गोरखा सेना ने निर्णायक संघर्ष किया था तथा प्रदर्शित युद्ध कौशल के कृत्य छाए हुए हैं और गाहे-ब-गाहे ये लोग इन सभी क्षेत्रों को नेपाल का खोया हुआ प्रदेश मान उसकी वापसी का दिवास्वप्न देखते हैं। यह एक प्रकार की परम्परागत औपनिवेशिक और विस्तावादी सोच है जिसमें प्रभावित जन समूह की मानसिकता का कोई स्थान नहीं होता।

## हिमालयी क्षेत्र में नेपाली उपस्थिति

जॉन हेल्पटन के अनुसार 1931 तक नेपाल को गोरखा राज्य, उसके सैनिकों को गोरखा सैनिक और उसकी भाषा गोरखाबोली कहा जाता था। गोरखा राज्य का प्रशासन हिन्दू धर्मशास्त्रीय आधार पर 'मुल्की आइन' (Civil Code) के अनुसार चलाया जाता था। अपनी 'फूट डालो और राज्य करो (Divide and rule) की नीति के अनुसार अंग्रेजी औपनिवेशिक सरकार ने कुछ प्रजातियों को, यथा सिक्ख, गुरखे, मराठे, पठान आदि को, लड़ाकू प्रजाति (martial rale) का दर्जा दे रखा था। गुरखों को भारतीय अंग्रेजी फौज में भर्ती करने के लिए पठानकोट, देहरादून, गोरखपुर, लहेरिया सराय, दार्जिलिंग, शिलांग आदि विशेष भरती केन्द्र खोले गए थे। यों तो सेवानिवृत्ति के बाद गोरखा सैनिक प्रायः वापस नेपाल चले जाते थे, परन्तु नेपाली तत्कालीन सरकार की दमनकारी विकासहीन असहिष्णु और दकियानूस नीतियों के चलते, काफी गोरखे सैनिक और असैनिक नेपाली भाषी उपरोक्त स्थानों पर बसने लगे थे। नेपाल की तथाकथित गैर लड़ाकू मानी जाने वाली जातियाँ गोपालन, दुग्ध-व्यवसाय और कृषिजन्य व्यवसायों की खोज में पूर्वोत्तर भारत की पहाड़ियों की तरफ मुड़ी। फलस्वरूप 1947 आते-आते जहाँ एक तरफ भारतीय अंग्रेजी फौज में 10 गोरखा रेजिमेंट थे, वहीं पठानकोट से चलकर हिमाचल, उत्तरांचल, सिक्किम, दार्जिलिंग, दक्षिणी भूटान, अरुणाचल, असम और पूर्वोत्तर भारत के अन्य राज्यों में नेपाली भाषियों की काफी आबादी बस गई। 1950 की भारत-नेपाल मैत्री संधि के प्रावधान 7 के अनुसार नेपाल और भारतीय संघ एक-दूसरे के नागरिकों को व्यवसाय, आवागमन और निवास की सभी सुविधाएँ अपने नागरिकों के समान देने के लिए वचनबद्ध हैं। निरंकुश राणाशाही के युग में नेपाली प्रजा को शिक्षण, व्यवसाय, अभिव्यक्ति आदि के अधिकार प्राप्त नहीं थे, उसके विपरीत, बनारस, पटना,

कलकत्ता, दार्जिलिंग आदि नगरों के नेपाली भाषियों ने शिक्षण, साहित्य, प्रकाशन कला आदि के क्षेत्रों में उन्नतिकर नेपाली लोगों के लिए पुर्नजागरण का पथ प्रदर्शित किया। कालान्तर में इन क्षेत्रों के नेपाली बुद्धिजीवी नेपाली समाज के उत्थान के अग्रदूत बने। यही नहीं नेपाली जनता की आवाज और आकांक्षा की प्रतीक के रूप में नेपाली कांग्रेस की स्थापना इन्हीं बुद्धिजीवियों और भारतीय राजनैतिक चेतना में पले सजग नेजाओं ने कलकत्ते में की। शीघ्र ही नेपाली कांग्रेस और उसके समाजवादी साथियों ने भारत से राणाशाही के विरुद्ध सशस्त्र युद्ध छेड़ा, जिसमें अपने नेपाली साथियों के साथ भारतीय मुक्तिसेनाओं के सिपाहियों ने बढ़-चढ़ कर भाग लिया। परन्तु एक राष्ट्रीय त्रासदी के फलस्वरूप राणाशाही के पतन के उपरान्त जनतंत्र का उदय नहीं, बल्कि विलासी, सत्ताविमुख और सत्ता की भूखी राजतंत्र की बहाली का पथ प्रसस्त हुआ। फिर तो पाशा पलट गया और आदर्शवादी और लोक-कल्याणकारी शक्तियों के स्थान पर चाटुकार सामन्तशाही, दरबारी तत्त्वों का बोलबाला हो चला। सत्ता सुख से वंचित और राज प्रसाद में बन्दीप्राय नेपाल नरेश प्रजा की आशा और आकांक्षाओं से अपरिचित रहकर षड्यंत्र, दुस्साहस, बड़ेबोलेपन और दरबारी चाटुकारिता के शिकार बन गए। ऐसी स्थिति में जनतांत्रिक शक्तियाँ कमजोर होती गईं और नेपाल प्रतिक्रियावादी और पतनोन्मुख सामन्तीय शक्तियों का अखाड़ा बनकर रह गया।

फिर स्वाभाविक रूप में वर्तमान युग की कटुताओं से मुँह मोड़ भूतकालीन तथाकथित गौरवगाथाएँ और पराक्रमी विजय स्मृतियाँ निठल्ले जनमानस को प्रेरणा देती हैं। लोक गीतकार धर्म राज थापा की नेपाली कविता 'नेपाली कहाँ गयो' इसी दिशा में पहल करती हैं :

*“हम नेपालियों को क्या हो गया है?*

*हमारे अपने सारे गीत खो गये हैं।*

*दो-दो बार युद्धक्षेत्र में जर्मनों से हम भारी पड़े हैं।*

*हमने सतलुज और कांगड़ा को फतह किया।*

*परन्तु आज हमारी आवाज, युद्ध का गगनभेदी नाद,*

*बिल्कुल सुना नहीं जाता।”*

थोड़ी देर के लिए उपरोक्त कविता को कवि या गीतकार की कल्पना की उड़ान मानकर देखें तो लगता है कि नेपाल के एक वर्ग विशेष की महानेपाल सम्बन्धी मानसिकता राजनैतिक षड्यंत्र का रूप ले चुकी है। इस सन्दर्भ में भारतीय या भूटानी सनसनी फैलाने वाले तत्त्वों को दरकिनार कर हमारे पास दो स्पष्ट दृष्टांत हैं।

प्रथमतः मनोज पंडित, ब्रिटिश प्रवासी नेपाली, ने महानेपाल पर डेढ़ घंटे चलने

वाली फिल्म बनाई है। (www. Greater Nepal.com) स्मरणीय है कि इस फिल्म का प्रदर्शन 2 दिसम्बर, 2006 को लन्दन विश्वविद्यालय स्थित School of Oriental African Studies (SOAS) में शाम के पाँच बजे किया गया। इस फिल्म में दिखाया गया है कि भारतीय संघ ने अवैधानिक रूप से नेपाल के पूरब, पश्चिम और दक्षिण में नेपाली क्षेत्रों को हड़प लिया है। इस फिल्म के माध्यम से दो बातें प्रचारित करने का प्रयास किया गया है : (1) नेपाल का इन क्षेत्रों पर वैधानिक अधिकार है और (2) इन क्षेत्रों में मान्य सीमा का अतिक्रमण हुआ है, जिससे नेपाली स्वार्थों की हानि हुई है। यह फिल्म प्रतिवर्ष सुगौली की संधि के हस्ताक्षरित होने के दिन दिखाई जाती है, जिससे फिल्मकार सम्वाद देना चाहता है कि सुगौली की संधि को निरस्त किया जाए और उसके मुताबिक नेपाल का तथाकथित क्षेत्र उसे वापस सौंप दिए जाएँ। ये सज्जन भारत नेपाल संधि के प्रारूप के प्रावधानों का लाभ उठा भारत के विभिन्न क्षेत्रों का भ्रमण का भारत विरोधी प्रयास में संलग्न हैं। द्वितीय, नेपाल के माओवादी महानेपाल लहर के कट्टर समर्थक रहे हैं। ये लोग सशस्त्र क्रान्ति को सत्ता प्राप्ति का एक मात्र मार्ग मानते हैं। इनकी मान्यता है कि असमान सुगौली की संधि के चलते नेपाल को अपनी तथा-कथित भूमि भारत को सौंपनी पड़ी। इस कारण ये लोग भारतीय संघ को अपना प्रबल शत्रु मानते हैं। CNN-IBN न्यूज चैनल के सम्वाददाता को अगस्त 2006 में माओवादी शिविर में महानेपाल का नक्शा दिखाया गया था जो वास्तव में वर्तमान नेपाल के अतिरिक्त भारतीय संघ के हिमाचल, उत्तरांचल, दार्जिलिंग, सिक्किम और उत्तर प्रदेश और बिहार राज्यों के उत्तरी जनपदों को मिलाकर बनता था। माओवादियों ने महानेपाल की प्राप्ति के लिए अपने सदस्यों को सदैव तत्पर रहने की हिदायत दे रखी है। उनके अनुसार भारतीय संघ का वास्तविक चरित्र विस्तावादी है और नेपाल को न्याय प्राप्ति के लिए सबसे पहले 1950 की भारत नेपाल मैत्री संधि को समाप्त करना चाहिए।

आज से करीब 25 वर्ष पहले दार्जिलिंग राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चा (GNLF; Gorkha National Liberation Front) के सर्वेसर्वा सुभाष धीसींग ने दार्जिलिंग सम्बन्धी मांग के समर्थन स्वरूप नेपाल द्वारा महानेपाल की मांग की तरफ इशारा किया था। चूंकि सुभाषा धीसींग की राजनैतिक विश्वसनीयता संदेहास्पद थी, इस कारण उस समय महानेपाल समस्या पर गम्भीर विचार विमर्श नहीं हो पाया। स्मरणीय है कि अपने गोरखालैंड राज्य की मांग के सन्दर्भ में धीसींग ने बहुत-सारी बेसिर पैर की बातें की थीं। दूसरे सज्जन श्री दावा शेरिंग शाही भूटान सरकार के विदेश मंत्री, ने 1990 के दशक के वर्षों में नेपाली मुल्क के भूटानी नगरिकों को महानेपाल का अग्रिम दस्ता बताया था। स्मरणीय है कि श्री शेरिंग ने महानेपाल का हौवा भूटान

सरकार द्वारा अपने हजारों-हजार नगरिकों को शरणार्थी शिविरों में भेजने को न्यायोचित बताने के क्रम में उठाया था। स्वाभाविक है कि श्री शेरिंग की बात को भूटान की तत्कालीन प्रजातीय संघर्ष-संदर्भ में देखा गया और उसकी तरफ उचित ध्यान नहीं दिया गया। परन्तु लगता है कि नेपाल का एक प्रबुद्ध तबका अपनी आधुनिक दयनीय राष्ट्रीय स्थिति से मुंह मोड़ एक तथा-कथित उदात्त ऐतिहासिकता के गौरव की मृगतृष्णा में व्यस्त है। इस कारण यह आवश्यक है कि महानेपाल की अवधारणा के विभिन्न आयामों पर तकसंगत रूप से विचार किया जाए।

**भाषाई और साहित्यिक संदर्भ :** भारतीय संघ ने नेपाली/गोरखाली भाषा को एक भारतीय भाषा के रूप में मान्यता दी है। भारत के मुक्तवातावरण में नेपाली साहित्य का विकास हुआ है। टेलीविजन/फिल्म से जन-भाषाओं को ही नहीं नेपाली भाषा को भी प्रश्रय मिला है। फलस्वरूप नेपाली भाषा नेपाल और उसके पूर्वी हिमालयी क्षेत्रों में एक सशक्त जन सम्पर्क माध्यम के रूप उभरी है। परन्तु पिछले दो दशकों से नेपाली मूल की जनजातिय भाषाएँ भी विकसित हुई हैं। सिक्किम राज्य ने लगभग एक दर्जन छोटी-मोटी जनजातीय भाषाओं को राज्यभाषा की मान्यता दे रखी है। इन भाषाओं में पाठ्यक्रम के अनुसार पाठ्यपुस्तकें लिखी जा रही हैं, उनके लिए स्कूलों में शिक्षक बहाल किए जा रहे हैं। जहाँ कहीं नेपाली साहित्यिक संसार समृद्ध है वहीं जनजातीय भाषाएँ अपनी अलग पहचान बनाने के क्रम में लिपि, शब्दकोष व्याकरण आदि आरम्भिक समस्याओं के समाधान में व्यस्त हैं। दार्जिलिंग जिले में जनभाषाओं का जोर अभी नहीं पकड़ा है।

## व्यवसायिक प्रतिष्ठान और अर्थव्यवस्था का सन्दर्भ

नेपाल राज्य की अर्थव्यवस्था सामन्तशाही ही नहीं, बल्कि विकृत पूंजीवादी स्वरूप ले चुकी है, जिसमें एक अत्यन्त ही सम्पन्न वर्ग है दूसरी तरफ एक बड़ी आबादी गरीबी सीमारेखा के नीचे की जिन्दगी जी रही है। नेपाली अर्थ व्यवस्था की स्वतंत्रता सीमित है। नेपाल का एक वर्ग प्रच्छन्न रूप से भारतीय या ब्रिटिश फौज में काम करता है, परन्तु उसका एक बहुत बड़ा वर्ग जीविका की खोज में भारत के विभिन्न नगरों या विदेशों का रुख करता है। वहाँ अत्यन्त ही कम आय पर कार्यरत ये लोग काफी गरीबी का जीवन बिताते हैं और यथा सम्भव बचतकर अपने सम्बन्धियों को भेजते हैं।

## महानेपाल के पीछे की राज्यव्यवस्था, राजनीति और राजकीय पद्धति

स्पष्टतः तथाकथित महानेपाल मध्यकालीन मानसिकता की उपज है, जब सशस्त्र संघर्ष से राज्यों की सीमाएँ बनाई या बिगाड़ी जाती थीं। वह युग सामन्तशाही



का था, जिसमें आम जनता की आवाज को महत्व नहीं दिया जाता था। उस समय सार्वभौमिकता का अर्थ भी सापेक्षित होता था। प्रायः सीमान्तीय रजवाड़े एकाधिक राज्यों को कर दिया करते थे। उन दिनों आज जैसा अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण नहीं था और न अन्तर्राष्ट्रीय संगठन ही विद्यमान थे। आज राज्यों की सीमाएँ बलपूर्वक नहीं बनायी या बदली जा सकती। ऐसा करने पर अन्तर्राष्ट्रीय जनमानस, संयुक्तराष्ट्रसंघ, अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय और अन्य मंच हैं, जिनकी अनदेखी नहीं की जा सकती। आज किसी भी देश की सीमा बदलना, विशेषकर वहाँ की जनता की इच्छा के विपरीत, लगभग असम्भव है। इस सन्दर्भ में अफ्रीकी महादेश का उदाहरण समीचीन होगा। पिछली शताब्दी में ब्रिटेन, फ्रांस, स्पेन, पुर्तगाल, हालैण्ड, बेल्जियम आदि औपनिवेशिक राष्ट्रों ने मिलकर अफ्रीकी महादेश को वहाँ की जनजातियों की मनसा की उपेक्षा का अपने उपनिवेशों में बाँट डाला। बीसवीं सदी के उपरार्द्ध में ये भूतपूर्व उपनिवेश एक-एक कर स्वतंत्र होने लगे। परन्तु किसी भी कोने से उनकी सीमाओं के पुर्ननिर्धारण करने की आवाज नहीं उठी। क्योंकि आशंका थी कि ऐसा काने से किसी समस्या का समाधान नहीं; बल्कि उलझन अधिक होगी।

इस सन्दर्भ में ध्यान देने योग्य बात है कि भारतीय संघ पिछले छः दशकों से गणतांत्रिक देश है; जहाँ नियम पूर्वक प्रति पाँच वर्षों में चुनाव आयोजित किये जाते हैं और जनता के चुने हुए प्रतिनिधि विधिसम्मत् प्रशासन चलाते हैं। संघ सरकार के संचालन के लिए संविधान विहित रूप से अपना प्रतिनिधि भारतीय संसद में चुनकर भेजते हैं। उसके विपरीत नेपाल का पिछले साठ साल का इतिहास काफी उतार-चढ़ाव का रहा है। क्रूर और दमनकारी राणाशाही का अन्त सशस्त्र क्रान्ति और भारतीय कूटनीति से सम्भव हो पाया 1950 का दशक प्रजातांत्रिक प्रयास की असफलता का इतिहास बनकर रह गया। 1960-1990 के तीस वर्ष शाहवंशी नरेशों द्वारा पंचायती प्रणाली के नाम पर राजशाही की पुर्नस्थापना के वर्ष रहे। 1990 की दूसरी जनतांत्रिक पहल नेपाली राजनीतिज्ञों के निकम्पेपन और अयोग्यता की कहानी बयान करती है। यह ऐसा समय था, जब दो परस्पर विरोधी शक्तियाँ जनतन्त्र की कीमत पर प्रभावशाली बनीं। एक तरफ तो नेपाल नरेश और उनके सामन्तीय समर्थक राजतन्त्र की पूर्ण रूपेण स्थापना करने में व्यस्त दिखे; तो दूसरी तरफ, माओवादी सहस्र क्रान्तिकारी नेपाल के सुदूर क्षेत्रों के प्रशासकों को बलपूर्वक हटाकर साम्यवादी मुक्त क्षेत्र (Liberate zone) घोषित कर रहे थे। अप्रैल 2006 में जनाक्रोश इतना बढ़ा कि अंतिम शाहवंशी नरेश ज्ञानेन्द्र वीर विक्रम शाह को पदत्याग करना पड़ा; राष्ट्रीय संवैधानिक निर्मात्री सभा के लिए चुनाव हुए और उसमें सारी अपेक्षाओं के विरुद्ध माओवादियों को सर्वाधिक स्थानों पर विजयश्री प्राप्त हुई। उन्होंने सरकार भी बनायी, परन्तु सरकार चला नहीं पाए। एक वर्ष के अन्दर ही माओवादी प्रधानमन्त्री प्रचण्ड

को पद त्याग करना पड़ा। फिर काफी मान-मनौवल के बाद एक दूसरी गैरमाओवादी सरकार बनी, जिसके सामने 28 मई, 2010 तक नेपाल का संविधान बनाने का असम्भव दायित्व पड़ा हुआ है। आजकल नेपाल, अराजकता, दिशाहीनता संक्रमण और नेतृत्वहीनता से ग्रस्त है। उसकी न कोई स्पष्ट दिशा है न कोई नेतृत्व और न स्पष्ट आवाज। ऐसे नेपाल में माओवादी जिस महानेपाल की पहल कर रहे हैं उस नेपाल के भूतपूर्व प्रधानमंत्री और नेपाली कांग्रेस अध्यक्ष गिरिजा प्रसाद कोइराला ने ठीक ही 'रूग्ण मानसिकता की उपज' (a product of unsound mind) बताया था।

इस संदर्भ में दो बातों का होना चिन्ताजनक है। सीमा के अराजक तत्त्वों द्वारा सीमा निर्धारण के स्तंभों का हटाया जाना तथा नेपाल में चीन का बढ़ता प्रभाव।

समाचार है कि भारतीय भूमि पर नेपाली नागरिकों ने कब्जा जमा रखा है। नेपाली माओवादियों और भारत विरोधी तत्वों की नजर अब खुली भारतीय सीमा पर एक हजार एकड़ भूमि पर लगी है। यह बात सशस्त्र सीमा बल (एसएसबी) के पटना सीमांत के तत्कालीन आईजी श्याम सिंह ने स्वीकारी है। उन्होंने कहा है कि केन्द्रीय गृह मन्त्रालय को इस सन्बन्ध में रिपोर्ट भेजी गई है। यह दो देशों का मामला है। लिहाजा वे कुछ नहीं कर सकते।

## सीमा विवाद खड़ा करने को हटाए जा रहे खंभे

रिपोर्ट के मुताबिक नेपाली माओवादियों और भारत विरोधी ताकतों की सक्रियता इस भूमि पर बढ़ गई है। कई बार नो मेंस लैंड पर नेपाली माओवादियों ने अपना झंडा फहराया है, जिससे दोनों देशों के बीच तनाव पैदा होता रहा है। इस सम्बन्ध में बिहार के कई थानों में मामला भी दर्ज हो चुका है। गृह मन्त्रालय ने नेपाल के सीमावर्ती क्षेत्र के सभी जिलाधिकारियों और पुलिस कप्तानों को सतर्क रहने के निर्देश दिए हैं। आईएसआई एक अन्य पड़ोसी राष्ट्र की मदद से भारत-नेपाल की खुली सीमा पर विवाद कराने पर तुली है।

सीमा विवाद खड़ा करने को हटाए जा रहे खंभों की रिपोर्ट में बताया गया है कि नेपाल से लगे कुल 1700 किलोमीटर क्षेत्र में भारत विरोधी तत्व सीमा पर लगे खंभे नष्ट कर रहे हैं। बिहार-उत्तर बंगाल की सीमा से सटे सीतामढ़ी, बाल्मीकि नगर, पीपराकोठी, जयनगर, मधुबनी, बीरपुर, बथनाहा, किशनगन्ज, दार्जिलिंग, सिक्किम और नेपाल के सप्तरी में कई ऐसे स्थान हैं, जो अंतर्राष्ट्रीय विवाद को जन्म दे सकते हैं। उत्तर बंगाल एसएसबी सेक्टर मुख्यालय के तहत कुल 3000 किलोमीटर क्षेत्र आता है। किशनगंज जिले के अधीन खंभा संख्या 130 से 132 तक नो मेंस लैंड पर लोगों ने कब्जा कर लिया है। इस जमीन पर दिगलबैंक थाने की काटाबस्ती निवासी



मोहम्मद हबीब अली समेत आठ परिवार बसे हैं। पिलर संख्या 133 से 135 के निकट नेपाली पुलिस चौकी स्थापित है। पिलर संख्या 137 से 139 गायब हैं। यह खुलासा नेपाल में माओवादी कमांडर रामबहादुर खड्का के नेतृत्व में हुई माओवादियों की महत्वपूर्ण बैठक के बाद हुआ है।

### भारतीय सीमा तक पहुँच बना रहा चीन

झापा जिले के काकड़भीड़ा, भद्रपुर, इलाम के पशुपतिनगर, मेंची तथा अन्य कई ऐसे स्थानों को चिन्हित किया जा चुका है, जहां नो मेंस लैंड के सटे रास्ते का निर्माण कराया जाएगा। यह रास्ता सीधा चीन से जुड़ेगा। वर्ष के अन्त तक चीन नेपाल में भारतीय नो मेंस लैंड से जुड़े क्षेत्र में 15 सौ किलोमीटर लम्बी सड़क बनाने की तैयारी में है। यह सड़क नारायण घाट से वीरगंज तक जाएगी, जिसे बाद में झापा से जोड़ दिया जाएगा। माओवादियों की मंशा है कि भारतीय भू-भाग को छूने वाले पुल और सड़क पर भारत का कोई दावा न हो। सीमांकन कर स्तम्भ लगाने का कार्य वर्ष 1994 से ठप्प है।

### सन्दर्भ

1. Dixit, K.M. 'Looking for Greater Nepal' Himal, March-April, 1993, p 15-19
2. Dixit, K.M., 2003, 'Myth Making of Greater Nepal' in *The Nepalis in North-east India: A Community in Search of Indian* ..... Indus, Publishing Company, New Delhi, p.p. 321-38
3. Sinle, AC, 2008] edited by Sinha, AC and Subba. *TB Sikkim: Feudal and Democratic*, Indus Publishing Company, New Delhi.

## महाराणा जयसिंह के काल में मेवाड़ में धार्मिक ग्रन्थों के आधार पर चित्रांकन परम्परा

सुशीला शक्तावत\*

मेवाड़ शैली के सन्दर्भित चित्र भारतीय कला साधना की कला के माध्यम से ईष्ट की आराधना के उद्देश्य को सामने रखकर रची गई रचानाएँ प्रतीत होती हैं, और इनकी रचना की पृष्ठभूमि में आध्यात्मिक आनन्द की उपलब्धि का एकमात्र दृष्टिकोण रहा हो ऐसा स्पष्ट परिलक्षित होता है।<sup>1</sup>

सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों से ही मेवाड़ की चित्रांकन परम्परा पर दो बातों का प्रभाव पड़ा। एक तो मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन से जागृत चेतना और सम्पूर्ण भारत में व्यापक होने वाली सगुण भक्ति धारा ने मेवाड़ की चित्र रचना परंपरा को प्रभावित किया। फिर राम तथा कृष्ण की भक्ति के प्रसार के साथ इन अवतारी पुरुषों के जीवन की विविध घटनाओं एवं उनके सम्बद्ध साहित्य को प्रमुख आधार बनाकर चित्र सम्पुटों का सृजन मेवाड़ में होने लगा।<sup>2</sup> दूसरा सन् 1615 में मेवाड़ और मुगलों के बीच हुई संधि से मेवाड़ की कला साधना प्रक्रिया का मुगल दरबार की कला सर्जन प्रक्रिया से सम्पर्क हुआ। इस सम्पर्क के परिणाम स्वरूप मेवाड़ की सोलहवीं शताब्दी तक अपने क्षेत्र की विशिष्टताओं में विकसित हो रही चित्रांकन परम्परा में मुगल चित्रकला की उत्तेजना, लालित्य, कमनीयता और व्यक्ति-निष्ठता का समावेश हुआ। लेकिन इन प्रभावों के बावजूद, मेवाड़ के चित्रकारों ने अपनी चित्रांकन परम्परा की शैलीगत मौलिक विशेषताओं का परित्याग नहीं किया, जिसके परिणामस्वरूप मेवाड़ की चित्र शैली की मौलिकता बनी रही एवं उसने उत्कृष्ट स्तर प्राप्त किया।<sup>3</sup>

\* डॉ. सुशीला शक्तावत, गुरुनानक कन्या स्नातकोत्तर महाविद्यालय, उदयपुर (राजस्थान)

## महाराणा जयसिंह कालीन चित्र

महाराणा जयसिंह (1680 से 1698) के राज्यकाल में उच्च कोटि के धार्मिक चित्रों की रचना हुई। उनमें भी रामायण तथा महाभारत के चित्र सम्पूट विशेष उल्लेखनीय हैं।<sup>4</sup>

महाराणा जयसिंह ने अपने राज्य की आंतरिक उलझनों से जूझते हुए भी अपने पुरखों की सांस्कृतिक परम्परा को जीवित रखने के लिए सबसे पहले रामायण के उत्तर काण्ड और किष्किन्धा काण्ड के कलमी चित्र बनाए। उदयपुर नगर में चित्रित करवाए गए दूसरे कई चित्र सम्पुटों की तरह महाराणा जयसिंह के काल में यहाँ बनवाए गए रामायण उत्तरकाण्ड और किष्किन्धा काण्ड के चित्र भी उदयपुर में उपलब्ध नहीं हैं। इस काल में चित्रित रामायण का उत्तरकाण्ड चित्र 1688 ईस्वी<sup>5</sup> महाराजा जयपुर के संग्रह में सुरक्षित है। किष्किन्धा काण्ड से सम्बन्धित चित्र, महाराजा जोधपुर के संग्रह में सुरक्षित है। इसके प्रथम चित्र में गणेश एवं उनकी प्रतिष्ठा करते हुए महाराणा जयसिंह की कृति विशेष महत्वपूर्ण है। चित्र में सुदृढ़ रेखांकन एवं रंगांकन इस काल की प्रमुख विशेषताएँ हैं।<sup>6</sup>

रामायण के उक्त उत्तरकाण्ड एवं किष्किन्धा काण्ड के चित्रों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मेवाड़ में रामायण का चित्रण कराने की एक उत्कृष्ट परम्परा रही है, जो उस काल में भी समाज में प्रचलित थी।

रामायण की तरह ही महाभारत महाकाव्य और श्रीमद्भागवत महापुराण की कथाओं के कथानकों को भी महाराणा जयसिंह के शासनकाल में चित्रित करवाया गया। इस काल में चित्रित भागवत का गोवर्धन धारण चित्र (1680 ई. लगभग) भारत कला भवन बनारस में सुरक्षित चित्र हैं। इसमें पहाड़ों के रंगीय परतों का अंकन बहुत ही आकर्षक है, गायों का चित्रण अपेक्षाकृत चाहे कम आकर्षक है। ऐसे ही भागवत के अन्य चित्र दावानल पान (1700 ई. लगभग) प्रिन्स ऑफ वेल्स संग्रहालय, बम्बई तथा गोपीकृष्ण कानोड़िया संग्रह, कलकत्ता में सुरक्षित हैं।<sup>7</sup>

महाराणा जयसिंह के शासन काल में लघुचित्रों का निर्माण तीव्र गति से हुआ। लघुचित्रों की संख्या के दृष्टिकोण से यह काल महत्वपूर्ण काल था। राजकीय संग्रहालय उदयपुर में लघु चित्रों का विशाल संग्रह है। उसमें महाभारत, पृथ्वीराज रासो, भगवती गीता, पंचाख्यान सारंगधर, सारंगतत्त्व, कादम्बरी, सूरसागर, रसिकप्रिया, रघुवंश, बेली कृष्ण रुकमणी, वृहतकथा, काशीखण्ड इत्यादि के लगभग 5000 चित्र महाराणा जयसिंह कालीन हैं। इन लघुचित्रों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इन लघुचित्रों के कई सेट पर महाराणा जयसिंह का नाम अंकित है। भगवत गीता के पत्र संख्या 24 पर “महाराजाधिराज महाराणा जयसिंह जी कारित” लेख अंकित हैं। इसी

प्रकार सारंगतत्व के पत्र संख्या 134 एक्सेशन नम्बर 1097/411 पर “महाराजाधिराज श्री जयसिंह” एवं बेली कृष्ण रुकमणी की पत्र संख्या 93, एक्सेशन नम्बर 1097/111 पर “महाराधिराज महाराणा श्री जयसिंह जी इदं कारित। इति वेल रो चित्राम सम्पूर्ण समाप्त। लिखावत कवीश्वर गिरधर भट कश्नदासेन लिखता” अंकित है। जयसिंह कालीन महाभारत के 3138 चित्र हैं, जिनमें आश्रम पर्व में पत्र संख्या 76, एक्सेशन नं. 1097/23/3103 संवत् 1747 (1690 ई.) “महाराणा जयसिंह कारित” अंकित हैं।<sup>8</sup>

महाराणा जयसिंह कालीन प्रमुख चित्रकार मनु और अलाबगस (अल्लाह-बक्ष) पाए गए हैं। हरिवंश के सेट के कई पत्रों पर चितारा मनु उत्कीर्ण एवं भगवत गीतों में दो चित्रों पर अलाबगस का नाम अंकित हैं।<sup>9</sup>

महाराणा जयसिंह के काल के धर्मग्रन्थों की चित्र रचनाओं को देखने पर यह साफ परिलक्षित होता है कि महाराणा जयसिंह समग्र रूप में सभी कलाओं और विशेष रूप से चित्रकला में गहरी रुचि रखने वाले शासक थे, जिन्होंने मेवाड़ की चित्रांकन परम्परा को सुरक्षित रखने और आगे बढ़ाने का प्रयत्न किया।<sup>10</sup>

चित्रकला समीक्षकों का महाराणा जयसिंह के शासनकाल के चित्रों के बारे में यह मानना है कि इस काल में उदयपुर में बनवाए गए भारत के धर्म ग्रन्थों से सम्बन्ध रखने वाले कलमी चित्र भारत की पारम्परिक चित्रकला के कई तत्त्वों से परिपूर्ण हैं, और वे चित्र संयोजन में समानान्तर विस्तारीय विभाजन का अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। यही नहीं महाराणा जयसिंह के शासनकाल के कलमी चित्रों में रेखाओं के सुदृढ़ अंकन और रंगों के सटीक प्रयोग के दर्शन भी होते हैं, जिसके परिणामस्वरूप चित्रों में आकृतियों का स्पष्ट रूप से सही अनुपात में अंकन हो पाया है।<sup>11</sup>

चित्रकलागत इन विशेषताओं के साथ ही महाराणा जयसिंह के काल में उदयपुर नगर में चित्रित धार्मिक ग्रन्थों के चित्र उस युग की मेवाड़ की प्रजा और शासक की भावनाओं और मनोवृत्तियों की तरफ भी इशारा करते हैं। उनसे प्रकट होता है कि महाराणा जयसिंह के शासनकाल तक मेवाड़ का समाज धर्म और अध्यात्म की भावनाओं से ओतप्रोत था और शासक वर्ग भी अपनी श्रेष्ठता और उत्कृष्टता का वहन करते हुए धर्म और उसके तहत कर्तव्यनिष्ठा के प्रति सावधान थे। उनमें अपने व्यक्तित्व और निजी गुणों के बखान की अथवा अपनी योग्यता के प्रदर्शन की मनोवृत्ति नहीं थी। इसीलिए उन्होंने स्वयं के अथवा उनकी शिकारों, राजसिक समारोहों अथवा परिवारिक जीवन से सम्बन्ध रखने वाली चित्र न बनवाकर शासक और प्रजा के सभी वर्गों में समान स्तर पर पूज्य धर्मग्रन्थों का चित्रण ही करवाया था। यही महाराणा जयसिंह तक के शासनकाल के मेवाड़ अथवा उदयपुर राज्य की जीवन प्रणाली की विशेषता थी।<sup>12</sup>

रसिक प्रियामहाराणा जयसिंह कालीन (1680-1698 ई.) के नाम से दर्ज 88

लघु चित्र संग्रहित हैं। इस संग्रह में राणा जगतसिंह प्रथम के काल की चित्रशैली का अनुसरण किया गया है। ये चित्र किसी महल की दीवारों पर लगे हुए थे, अतः इन चित्रों का रंग बहुत धुंधला पड़ गया है एवं चूने की वजह से चित्रों को नुकसान भी पहुँचा है। चित्र क्रमांक 1097/11 पर दर्ज हैं एवं आकार 265×42 से.मी. है। इन मेवाड़ शैली के चित्रों के हाशिये लाक्ष वर्ण है। प्रत्येक चित्र के ऊपरी भाग पर पीली जमीन पर काली स्याही में सवैया लिखा गया है।<sup>13</sup>

रसिक प्रिया में शृंगार, प्रेम संयोग, वियोग, नायिका जाति, दर्शन, लक्षण अष्ट नायिका वर्णन प्रमुख विषय हैं। इस काव्य ग्रन्थ में श्रीकृष्ण को नायक एवं राधा को नायिका के आलम्बन रूप में अभिव्यक्त किया गया है। विशेष रूप से इसमें नायिकाओं की कोमल भावनाओं का सूक्ष्म एवं मनोवैज्ञानिक वर्णन बहुत सजीव रूप में हुआ है। केशवदास, नायिका भेद में संस्कृत ग्रन्थों, नाट्य शास्त्र, कामसूत्र एवं रसमंजरी से प्रभावित हुए हैं, परन्तु उन्होंने अपनी ओर से बहुत कुछ जोड़कर मौलिकता का परिचय दिया है। प्रच्छन्न एवं प्रकाश का भेद भी केशव ने पहली बार किया है। कई नायिकाओं पर मुगल संस्कृति एवं फारसी साहित्य में वर्णित प्रेमकथाओं की झलकियाँ भी पाई जाती हैं।<sup>14</sup> इनमें “वासकसज्जा” जिसमें नायिका शृंगार करके एवं सेज सजाकर अपने प्रियतम का इंतजार करती है, साथ में वृक्ष-लताएँ, पशु-पक्षी, हरिण इत्यादि भी प्रतीक्षा में व्याकुल दिखलाए गए हैं। प्रच्छन्न कामाभिसारिका में नायिका के पांव में साँप लिपटे हुए दिखलाए गए हैं। चारों दिशा में निशाचर डरा रहे हैं, मूसलाधर वर्षा हो रही है, बिजलियाँ चमक रही हैं, परन्तु इन सबसे बेपरवाह नायिका अपने प्रियतम से मिलने जा रही है इस प्रकार ‘वासकसज्जा’ एवं ‘प्रच्छन्नाकाम्याभिसारिका’ के चित्र अत्यन्त मनोरम एवं सुन्दर बने हैं, जो इस संग्रह के प्रतिनिधि चित्र कहे जा सकते हैं।<sup>15</sup>

महाराणा जयसिंह कालीन रसिक प्रिया के लघुचित्रों में लाल, नीला और हरा रंग अधिक प्रयुक्त हुआ है। चित्रों में नीला आकाश, चांदनी रात, सफेद गुम्बद, महल के भीतरी ताको में गुलदस्ते, झरोखे और शामियानों के साथ-साथ तरुलता खास तौर से आम के हरे पत्तों के ऊपर लाल पत्ते (बसन्त ऋतु में आम के पत्ते का रंग प्रायः लाल और पीला हो जाता है), फूलों से लदी हुई लताएँ, ताल-वृक्ष, जल में तैरती हुई मछलियाँ, खिलते हुए फूल, नाचते मयूर, रिमझिम बरसता हुआ पानी, उगता हुआ सूरज और आसमान पर फैली हुई लाली का अंकन बहुत सजीव हुआ है। जानवरों में हिरण, शेर, पक्षियों में हरे एवं लाल तोते विशेष रूप से आकर्षित करते हैं। इस प्रकार प्रकृति का चित्रण आश्चर्य, कौतूहल, अनुराग आदि विभिन्न भावनाओं की पृष्ठभूमि पर हुआ।<sup>16</sup>

पुरुषों एवं नारियों के कद मध्यम दर्जे के, चेहरे गोल, परन्तु तराशे हुए, आँखें

बादाम की तरह छोटी, जिनकी पुतलियों का रंग प्रायः काला दिलखाया गया है। नारियों के बाजूओं पर काले फुंदने अधिकता से दर्शाए गए हैं। ओढ़नी पारदर्शी जिस पर फूल बने हुए होते हैं। कहीं-कहीं श्रीकृष्ण को दरबारी लिबास विशेषकर चाकदार जामा, चूड़ीदार पायजामा और अटपटी पगड़ी पहने, कमर में तलवार लटकाए दिखलाया गया है।

“बेलिकिशन रुक्मिणी री” कवि पृथ्वीराज की एक प्रौढ़ और मार्मिक रचना है। इसमें श्री कृष्ण और रुक्मिणी के विवाह की कथा है। इस काव्य की महाराणा जयसिंह के काल में सुन्दर मेवाड़ शैली की सचित्र प्रति उपलब्ध होती है जो विशेष महत्त्वपूर्ण है। इसके कुल 95 पन्नों में 95 चित्र हैं, जो मेवाड़ शैली में चित्रित हैं। पन्नों का आकार 10½ x 16½ इंच है। अन्तिम पत्र में इस प्रकार के लेख हैं कि जिससे चित्रकार और आश्रयदाता का ज्ञान होता है।<sup>17</sup> जैसे प्र. वेल रो पत्र 9511 में लिखा श्री ठाकुर ठाकुराणी जी रा गुण कुण गावे। मलो प्रसाद सरस्वती जी रो।। महाराजाधिराज महाराणा श्री जयसिंह जी इदं कारितं।। इति बेलि से चित्राम सम्पूर्ण समाप्त लिखावत कवीश्वर गिरधर।। भट्ट कृष्ण दासेन लिखितं।।

बेलिकिसन रुक्मिणी के चित्रों में कथा को मेवाड़ी टीका के रूप में प्रत्येक चित्र पर कलमी अक्षरों में लिखा गया है। देवनागरी लिपि में ही मेवाड़ी बोली को लिखा गया है प्रत्येक अक्षर पृथक-पृथक पंक्तिवार लिखा गया है। इसके लिए काली स्याही और मोटी कलम का प्रयोग किया गया है। यह स्याही काजल, गोंद तथा अन्य वनस्पतियों को मिला घोटकर तैयार की जाती थी और बरू की कलम से लिखाई होती थी। प्रत्येक चित्र के परिचय के रूप में भाषा व लिपि का प्रयोग किया गया है।<sup>18</sup> इन चित्रों में चित्रकार का नाम नहीं मिलता।

## सूरसागर

राजकीय संग्रहालय उदयपुर में सूरसागर के लगभग 126 लघु चित्र विद्यमान हैं। इनमें से 123 लघुचित्र महाराणा जयसिंह के समय के हैं। इन चित्रों को काल निर्माण के आधार पर दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। 31 चित्र छोटे आकार (25.5 × 19.8 से.मी.) के हैं। ये महाराणा जयसिंह के शासनकाल के पूर्वाद्ध में बने हैं। रंग योजना एवं कलम के आधार पर यह चित्र श्रेष्ठ है। 91 लघुचित्र महाराणा जयसिंह के शासनकाल के उत्तरार्द्ध में निर्मित हुए हैं। ये बड़ी साइज (40.44 × 24.4 से.मी.) के हैं। इस साइज के चित्र महाराणा जयसिंह के काल में बनना प्रारम्भ हुए। इनमें 11 चित्र लेखरहित हैं।<sup>19</sup>

महाराणा जयसिंह के समय के 31 लघुचित्रों में जो छोटे आकार के हैं, प्रकृति

चित्रण व्यापक और सजीव हुआ है। कलम में बारीकी और सफाई है। इनमें घने बादल, इन्द्रधनुष, सर्पिली बिजलियाँ, उड़ते हुए सारस, नाचते मयूर, काले हिरन, आम तथा केले के वृक्ष, फूलों से लदी हुई लताओं का अंकन हुआ है। बड़े आकार के चित्रों में नीला आकाश कहीं-कहीं चमकते हुए तारे, राजमहल गुम्बद वाले ढलान, झरोखे एवं शामियानों का चित्रण अधिक हुआ है। इन चित्रों में लाल, पीला, हरा एवं केशरिया रंग अधिक उपयोग में आया है।<sup>20</sup>

सूरसागर के इन लघु चित्रों पर किसी चित्रकार का नाम अंकित नहीं है। परन्तु जयसिंह कालीन भगवत गीता के पत्र संख्या 42 पर अलाबगस (अल्लाह-बक्ष) का नाम अंकित है, जिससे यह अनुमान होता है कि महाराणा जयसिंह कालीन प्रमुख चित्रकार अलाबगस था। मेवाड़ के लघुचित्रों के एक प्रमुख विशेषता यह रही है कि जिस काल में चित्रों का निर्माण हुआ है, उस काल के राजा का चित्रांकन किसी-न-किसी रूप में अवश्य हुआ है। सूरसागर में कई जगह उद्धव के रूप में महाराणा जयसिंह को दर्शाया गया है।<sup>21</sup>

सूरसागर के लघुचित्रों में बाल छवि, माखन चोरी, मुरली-वादन, गोवर्धन धारण लीला, वृंदावन बिहार, पनघट, यमुना विहार, झूलना एवं भ्रमरगीत इत्यादि का चित्रण मुख्य रूप से हुआ है। भ्रमरगीत के 9 लघु चित्र पाए गए हैं। चीर हरण एवं रासलीला के चित्र विद्यमान नहीं हैं।<sup>22</sup>

## सन्दर्भ सूची -

1. व्यास राजशेखरमेवाड़ पेन्टिंग, पृ. सं. 22-23
2. व्यास राजशेखरमेवाड़ की कला और स्थापत्य, पृ. सं. 281
3. चोयल पी.एन. मेवाड़ की चित्रकला, मेवाड़ शू द एजेज, पृ. सं. 31
4. वशिष्ठ आर.के.मेवाड़ की चित्रांकन परम्परा, पृ.सं. 27
5. (अ) उत्तर रामायण रो पत्र //282// जे रामायण भणे //भणावे// ते विष्णु पद पावे// इति श्री रामायणे उत्तरकाण्ड समाप्तः लिपायतं भट्ट मुकदेन//लिपतं भट्ट कृष्णेन//श्रीरस्तु//श्री श्री श्री महाराणा श्री जयसिंह इदं कारितं//सं. 1745 वर्षो आश्विन सुदि पंचमी//  
(आ) वशिष्ठ आर.के. मेवाड़ के चित्रांकन परम्परा पृ. सं. 27
6. वही, पृ.सं. 27
7. वशिष्ठ आर.के.मेवाड़ की चित्रांकन परम्परा, पृ.सं. 27
8. तनवीर खलीलउदयपुर संग्रहालय के लघु चित्र द रिसर्चर पृ.सं. 77
9. वही, पृ.सं. 77-78
10. व्यास राजशेखरमहाराणा जयसिंह के काल में बने धर्म ग्रन्थों के हजारों चित्र, प्रकाशित लेख : राजस्थान पत्रिका, 9 जनवरी, 1997 पृ.सं. 11

11. वही, पृ.सं. 11
12. वही, पृ.सं. 11
13. खलील तनवीरमेवाड़ में रसिकप्रिया के आधार पर चित्रांकन परम्परा लेख, वरदा, पृ.सं. 24
14. वही, पृ.सं. 25
15. वही, पृ.सं. 25
16. वही, पृ.सं. 25
17. नीरज जयसिंहराजस्थानी चित्रकला और हिन्दी कृष्ण काव्य पृ.सं. 108
18. बेलि किशन रुक्मिणी री प्रति, प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, उदयपुर क्र.सं.
19. खलील, तनवीर, सूरसागर, राजकीय संग्रहालय पत्रिका में प्रकाशित पृ.सं. 6
20. वही
21. वही, पृ.सं. 7
22. वशिष्ठ आर.के., मेवाड़ की चित्रांकन परम्परा, पृ.सं. 27

## मध्यकालीन काव्य में 'बाजार लीला'

गोविंद कुमार 'गुंजन'\*

हमारे समय में बाजार की लीला सबसे सम्मोहक रूप धरकर नित्य नए ढंग से प्रकट हो रही है। बाजार का सर्वव्यापी स्वरूप अपना विराट् रूप दिखाता हुआ सबको अपनी ओर आकर्षित कर रहा है। आधुनिक साहित्य में तो इस बाजार के स्वरूप पर विस्तार से लिखा ही जा रहा है, अन्य क्षेत्रों में भी इसके प्रभावों का गहन अध्ययन प्रारम्भ हो चुका है, क्योंकि इसका विस्तार हमारी आर्थिक नीतियों, विदेश नीति और राजनीति को अपनी चपेट में लेते हुए आम जनजीवन को भी ग्रसने लगा है। कहा जा रहा है कि बाजार अब बड़े-बड़े वातानुकूलित मॉल से लेकर गली-गली के नुक्कड़ों पर भी पसर गया है। सिर्फ यही नहीं, उसका प्रवेश आम जतना के घरों में भी धड़ल्ले से हो गया है। इसके सर्वव्यापी स्वरूप से बचना किसी के लिए सम्भव नहीं रहा।

अब सारा वातावरण चीजों से पट गया है चीजें उपयोगी हैं या नहीं, आवश्यक हैं या नहीं इस बात से फर्क नहीं पड़ता। फर्क इस बात से पड़ता है कि चीजें दिखाई किस तरह से जाती है। कहावत है कि जो दिखता है, वह बिकता है। इसलिए चीजों को दिखने पर जोर है। प्रदर्शन, "डिमोस्ट्रेशन" अब एक महत्वपूर्ण शब्द बन चुका है। जो चीज आपके लिए आवश्यक नहीं उसे भी आप खरीदने को आतुर हो जाएँ, यहाँ तक कि उसके लिए कर्ज के दलदल में धँसने को भी तैयार हो जाएँ, यही बाजार की शक्तियाँ प्रेरित करने की तकनीकें ईजाद करती हैं।

बाजार का यह स्वरूप भयावह है। वाणिज्य अथवा व्यापार समाज को जीवित रखन की एक आवश्यक प्रणाली है, जो बाजार के माध्यम से संचालित होती है। यह समाज का श्वसन तन्त्र है इसे शोषक शक्तियों द्वारा नई तकनीकों से हथियाए जाने से समाज पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। समाज का यह श्वसन तन्त्र यदि अस्वस्थ हो

\* गोविन्द कुमार 'गुंजन'; कवि, ललित निबंधकार एवं समीक्षक; पताउत्तरायण 18, सौमित्रनगर, सुभाष स्कूल के पीछे, खण्डवा (म.प्र.) 450001

जाता है, तो जीवन में कितनी ही विसंगतियाँ संवेदनहीनताएँ और धनोन्मुख लालसाएँ अपना असर दिखाने लगती हैं।

अपने मूल स्वरूप में बाजार एक स्वस्थ प्रणाली था। वह समाज के आर्थिक विकास के साथ-साथ आम जनजीवन को आवश्यक वस्तुएँ उपलब्ध कराने के लिए एक शक्तिशाली माध्यम था। व्यापारी और ग्राहक का सम्बन्ध केवल बिकाऊ और लुटेरी प्रवृत्तियों पर आधारित नहीं था। यह परस्पर विनियम था। ग्राहक और व्यापारी दोनों ही एक दूसरे से लाभान्वित होते थे। यह दो तरफा विकास था। इसमें बेचने वाले और खरीदने वाले दोनों लाभान्वित होते थे। बाजार के द्वारा व्यापार विकसित होता था और व्यापार के द्वारा समाज। अब बाजार के द्वारा केवल पूंजीवादी शक्तियाँ ही विकसित हो रही हैं, और समाज गरीबी की गहरी खाई में अधिक धंसता जा रहा है। जैसे मछली को फँसाने के लिए काँटे पर आटा लगाया जाता है वैसे ही अब बाजार ने 'मुफ्त' शब्द को महामन्त्र की तरह अपना लिया है। 'मुफ्त' का लालच देकर निर्धन जनता की भीड़ अपनी तरफ खींचकर कब वह उनकी जेब काट लेता है, इसका पता ही नहीं चलता।

मध्यकालीन काव्य में बाजार की सम्मोहक छवियाँ अंकित हैं। इस काव्य में सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि यह बाजार समाज की समृद्धि का संदेश देते हैं। यहाँ व्यापारी को लूटने की छूट नहीं है। चाहे वह व्यापारी नटनागर कृष्ण ही क्यों न हो, उसे साधारण सी गवार ग्वालिनें भी चेतावनी देने की शक्ति रखती हैं कि व्यापार किसी भी प्रकार की बेईमानी पर आधारित नहीं होना चाहिए।

मध्यकालीन काव्य में बाजार अनवाश्यक वस्तुओं से नहीं, जीवनोपयोगी वस्तुओं से सजते हैं। यहाँ नागर नागरियाँ ही तय करती हैं कि बाजार में अच्छी वस्तु किस दुकान पर मिलेगी? विज्ञापन मौखिक एवं स्वानुभूति से उपजते हैं और ग्राहक को ठीक जगह प्रेरित करते हैं।

मध्यकालीन कृष्णभक्ति के काव्यों के अनुशीलन से एक बात और स्पष्ट होती है कि इन कवियों ने अहीर, कृषक, कुम्हार आदि, ग्रामीण व्यवसायियों की जिस विस्तार से चर्चा की है उतने विस्तार से जौहरी, सराफ, बजाज आदि नागरिक व्यवसायों की विस्तार से चर्चा नहीं की है यद्यपि उस समय ये व्यवसाय भी कम विकसित नहीं थे। ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे मध्यकालीन काव्य में बाजार कृषि, घरेलू एवं कुटीर उत्पादों के विकास का माध्यम था। वह आम जनजीवन की सुविधा के लिए था, उसे लूटने के लिए वह सजीला स्वरूप धारण नहीं करता था।

मध्यकालीन काव्य में बाजार शब्द का व्यवहार कबीर और कबीर से पूर्ववर्ती काव्यों में भी बार-बार हुआ है। जायसी ने सिंहल द्वीप के बाजार या हाट का उल्लेख अपने पद्मावत में किया है "पुनि देखिय सिंहल के हाटा...।" गोस्वामी तुलसीदास ने रावण की नगरी में भी लगने वाले हाट बाजार से नगर एवं वीथियों की शोभा बढ़ने



का उल्लेख किया है “चउहट्ट हट्ट सुबट्ट वीथी चारु पुर बहु विधि बना...।” कहते हुए तुलसी ने रावण की नगरी में भी बाजार को विकृत नहीं बताया था। कबीर तो लाठी लेकर बाजार में खड़े थे। “कबीरा खड़ा बाजार में लिए लुकाठी हाथ...।” यह लाठी बाजार पर नियंत्रण का प्रतीक है। यह बाजार के द्वारा गरीबों के घर जला कर अपने विशाल मॉल जगमगाने की छूट नहीं देने वाली आचार संहिता की लाठी है। कबीर कहते हैं, जो घर जारे आपनो...” अर्थात् जो अपना घर जलाता है, वह बाजार....। वह कहते हैं हमारे साथ चलो, इस नियंत्रक लाठी से बाजार को संयमित करने की जिम्मेदारी हमारी है, कवियों की बुद्धिजीवियों की है....

अब कोई कबीर बाजार में लुकाठी लिए नहीं खड़ा है। लोग बाजार में अब अपने घर जला रहे हैं। कर्ज की आग में अपना संतोष झुलसा रहे हैं। अपना जीवन तबाह कर रहे हैं। यह बाजार हर साल अरबों-खरबों लोगों को निर्धनता की गहरी खाई में धकेलकर मुट्ठीभर लोगों को दुनिया का सबसे अमीर आदमी बनाए रखने का माध्यम बनता जा रहा है। इसका कारण स्पष्ट है कि अब बाजार पर कोई नियंत्रण नहीं रहा। अब आप टी.वी. पर विज्ञापन देकर गन्डे ताबीज, यन्त्र-मन्त्र से लेकर गर्भ निरोधक गोलियाँ भी लुभावने अन्दाज में बेच सकते हैं। अब कोई कबीर, कोई बुद्धिजीवी हाथ में लुकाठी लिए कहीं नहीं खड़ा है। बाजार ने उनको भी खरीद लिया है। अब वे भी उनके “रोड शो” का हिस्सा बनकर उनके लिए आकर्षक विज्ञापन तैयार करने में व्यस्त है, ताकि आप खुशी-खुशी उनकी लगाई आग में अपने झोंपड़े जला लें और उनके विराट मॉल, होटल और बाजार आपके घरों को बेदखल कर सकें।

आधुनिक काल के इस बीमार बाजार के विपरीत मध्यकालीन काव्य में बाजार के सम्मोहक चित्र सर्वाधिक कृष्ण भक्ति काव्य में उपलब्ध हैं। अष्टछाप के कवियों ने तो कृष्णलीला के गायन हेतु बाजार लीलाएँ भी रच डाली थीं जिसके माध्यम से वह अपने समय के बाजार का सुन्दर, आकर्षक किन्तु स्वस्थ स्वरूप दिखाने का उपक्रम करते थे। वह एक आदर्श बाजार का स्वरूप चित्रित करते थे जो लूट संस्कृति का विरोध करने वाला और आम जनजीवन की सुविधाओं का पोषक था। उनका व्यापारी नटनागर कृष्ण था और ग्राहक थे अहीर, ग्वालनें और पुरवासी लोग। कृष्ण अत्याचारों को मिटाने के लिए जन्मे थे वह समाज में प्रेम की संस्कृति के साथ कर्म की संस्कृति को संयुक्त करना चाहते थे, जहाँ कर्म प्रेम से उपजे और समाज एक अविच्छिन्न प्रेम की डोर से बंधा हो। उनका दृष्टिकोण समाजोन्मुख था। यह व्यक्ति विशेष का विकास नहीं, समग्र समाज का विकास था जो समृद्ध वाणिज्य को स्वस्थ वाणिज्य भी बनाना चाहता था। इस बाजार की पहली शर्त थी उचित मूल्य। व्यापारी अपने लाभ के लिए ग्राहक से अनुचित मूल्य प्राप्त करने का अधिकारी नहीं होता था। परमानंद दास के नटनागर कृष्ण गोपियों से अपने दूध-दही का उचित मूल्य लेने पर जोर देते हैं वह कहते हैं “उचित मोल कहि या दधि को, लेहू मटुकिया सारी।”

अच्छी वस्तु को परखकर ग्राहक भी उचित मूल्य देना चाहता है। कृष्ण दही को चखकर उसकी शुद्धता की जाँच करते हैं। महाकवि कुम्भनदास ने एक पद में इसकी पुष्टि की है

“आज दधि देखों तेरी चाखि।

कहे धौ मोल, कितै बेचैगी, सत्ववचन मुख भाखि।।

बाजार की विशेषता यह होती है कि वह लुभावने ढंग से ग्राहकों को आकर्षित करता है और जो वस्तु उसके लिए उपयोगी नहीं भी हो तब भी उसे खरीदने के लिए तैयार कर लेता है। आज हमारे घर अनुपयोगी वस्तुओं से पटे जाते हैं क्योंकि हम इस बात पर एकमत नहीं हैं कि अनावश्यक वस्तु हम नहीं खरीदेंगे। हम इसलिए खरीदते हैं क्योंकि पड़ोसी पहले खरीद चुका है और हमारे नहीं खरीदने पर पड़ोसी के सामने हमारी शान घट जाएगी।

सूरदास ने इस प्रवृत्ति पर स्पष्ट संकेत दिया है। उनकी गोपियाँ उद्धव से मुक्ति का सौदा नहीं खरीदने पर एकमत हैं, क्योंकि उसकी उन्हें कोई आवश्यकता ही नहीं है। यहाँ गोपियों के माध्यम से सूरदास ने यह भी संकेत किया है कि यदि स्त्रियाँ अनावश्यक खरीददारी पर विचार भरकर लें तो समाज अनावश्यक वस्तुओं से पटने से बच सकता है। बाजार स्त्रियों को ही अधिक उकसाता है क्योंकि इसके आकर्षण का सबसे सुलभ शिकार स्त्रियाँ ही होती हैं। मुक्ति का सौदा लेने से इंकार करने वाली गोपियाँ समाज की जागरूक स्त्री शक्ति का प्रतीक हैं। उद्धव उन्हें वह चीज बेचना चाहता है जिसकी उन्हें चाह या आवश्यकता नहीं है, परन्तु यदि एक भी स्त्री उद्धव के प्रलोभन में आ जाती तो उसका सौदा ब्रज में बिक जाता। परन्तु ये जागरूक स्त्रियाँ थीं, इसलिए घर घर शीश पर सौदा लिए घूमने पर भी उद्धव का ‘मुक्ति सौदा’ वहाँ नहीं बिका “धरे सीस घर घर डोलत हौ, एक मति सब भई सहेली।” यह एक मति होकर रहने वाली सहेलियाँ तो प्रेम का सौदा करती हैं और उद्धव का उपहास करते हुए कहती हैं

“मुक्ति आनि मदे मैं मैली

समुझि सगुन लै चले न उधो, यह तुम पै सब पुँजी अकेली।

कै ले जाहू अनत ही बेचो...।

वह कहती हैं इसे कहीं और बेचो। यह वस्तु यहाँ नहीं बिकने वाली। यहाँ हम सब ‘एक मत’ की सखियाँ हैं। ब्रज मण्डल में महाकवियों द्वारा जो बाजार के यादगार वर्णन हैं, भले ही रस की दृष्टि से लीला व्यापार के निमित्त रचे गए हों, किन्तु इसके पीछे उनकी दृष्टि साफ है यह रसिक ढंग से रचे गए लीलापद ही सही, किन्तु उनमें अपने युग के बाजारों का सौन्दर्य, समृद्धि, व्यापारनीति, ग्राहक की जागरूक दृष्टि सभी कुछ सामाहित हैं सूरदास के कान्हा अपने भैया बलराम के साथ हटरी (हाट) में दुकान

लगाकर बैठे हैं। उनकी दुकान में पिश्ता, दाख, बादाम, छुहारा, खुरमा, खाजा, मठरी, आदि मेवा मिठाइयाँ हैं

“सुरभी कान्ह जगाय खरिकहिं, बल मोहन बैठे हैं हटरी।  
पिस्ता दाख बादाम छुहारा खुरमा खाजा गूझा मठरी।  
घर घर तै नर नारि मुदित मन गोपी ग्वाला जुरे बहु हटरी।  
टेरि टेरि जब देत सबनि को लै लै नाम बुलाई निकटरी  
देत असीस सकल बृज भाभिनी, जसुमति देति हरिष बहु पटरी।।

बाजार में बृज नारियाँ एक दूसरे को बुलाकर नटनागर की दुकान पर ले जाती हैं। बाजार में ब्रज नारियों की भीड़ को रसिक दृष्टि से चित्रण न भी मानें तो यह सत्य आज भी किसी बड़े से बड़े ‘खरीदारी के मॉल’ में देखा जा सकता है, जहाँ खरीदारी की शौकीन नारियों की संख्या नरों से अधिक ही दिखाई देती है। आज भी गली-गली में फेरे लगाकर वस्तुएँ बेचने वालों की बिक्री ललनाओं की क्रय-प्रियता के कारण कुछ कम नहीं होती।

ब्रज मंडल के इस हाट में व्यापारी कान्हा अपने ग्राहकों के साथ आत्मीयता का व्यवहार करते हैं। वह उन्हें नाम ले लेकर बुलाते हैं। ऐसे ही परमानंददास की हाट भी बड़ी निराली है। वहाँ गिरधर व्यापारी के वेश में हटरिया में बैठे हैं, मधु मेवा पकवान और मिठाई बेच रहे हैं। बृज वनिताएँ शृंगार कर आती हैं और मुस्कराते हुए कन्हैया को चेतावनी देना भी नहीं भूलतीं कि सौदा ठीक से तौलना। कहीं कुछ कम न दे

“गिरधर हटरी भली बनाई।  
दीपावली हीरा मनि राजत देखि हरख होतु अति माई।  
भाँति अनेक पकवान बनाए अति नौतन व्यंजन सुखदाई।  
सुन्दर भूखन पहिरे सुन्दरि ‘सौदा’ करन लाल सो आई  
बैठे लाल हटरिया बेचत मधुमेवा पकवान मिठाई  
देखि देखि सोभा ब्रज सुन्दरि, सौदा लेन लाल सो आई।  
सावधान हूवै सौदा कीजो, जो दीजो तो तौल पुराई  
राखो चित चंचल नहि कीजै, ग्वालनी हँसि मुस्काई।

ऐसे ही वर्णन नंददास, चतुर्भुजदास, गोविन्द स्वामी सहित सभी प्रमुख अष्टछाप कवियों ने भी किये हैं।

गोविन्दस्वामी की हटरी तो रत्नों से जटित है, जहाँ मोतियों की झालरें टंगी हैं

“हटरी बैठे श्री गोपाल।

रतन जटित की हटरी बनी है, मोतिन झालरि परम रसाल।

नंददास जी ने हाट में कृष्ण बलराम को नंदबाबा के साथ बैठे हुए बताया है

“दीप दान दै हटरी बैठे, नन्द बाबा के साथ।  
नाना विधि मेवा मँगाई, बाँटत आपने हाथ।

कृष्ण भक्त कवियों ने कृष्ण लीला के साथ जो बाजार लीला के पद रचे हैं उनमें कृष्ण के व्यापारी स्वरूप का वर्णन करने के बहाने व्यापारी को ईश्वर अंश चित्रित किया है। यह ऐसा व्यापारी है जो कभी कम नहीं देता। अनुचित मोल नहीं लेता। उसका सौदा पुष्टिकारक है। रत्नों से जड़े और मोतियों की झालरों से सजे हुए बाजार अपने युग की समृद्धि का बखान करते हैं। व्यापारी और ग्राहक के बीच विश्वास और प्रेम का रिश्ता है। तुलसीदास ने भी रामराज्य में ऐसे ही सुन्दर बाजारों की झलक दिखाई है, जहाँ ग्राहक और व्यापारी के बीच ऐसा सम्बन्ध है कि वहाँ वस्तु बिना गथ (अन्य वस्तु) दिए ही प्राप्त की जा सकती है। मानस के उत्तर काण्ड की पंक्तियाँ हैं

“बाजार रूचिर न बत्रई बरनत वस्तु बिनु गथ पाइए।  
बैठे बजाज सराफ बनिक अनेक मनहु कुबेर तै।”

ये वणिक् बजाज है, जो अपनी प्रजा को शील का वस्त्र देते हैं, ये वणिक् सराफ है जो कुबेर की तरह अपनी सम्पदा बिना बदले में कुछ दाम लिए लुटाते हैं।

तुलसी के ये व्यापारी जो ‘वस्तु बिनु गथ पाईए’ अर्थात् बिना कुछ दिये वस्तुएँ देने वाले हैं। वे बदले में कुछ नहीं लेते, वास्तव में प्रभु कृपा का प्रतिदान है। यह भक्त कवि की श्रद्धा है किन्तु कृष्ण भक्ति के कवियों को अपने आराध्य से भी यह कहने में संकोच नहीं है कि “सावधान हूवै सौदा कीजो, जो दीजो तो तौल पुराई...।” इसका अर्थ यह नहीं है कि कृष्णभक्त कवियों को अपने गिरधारी की ईमानदारी पर कोई सन्देह है, वह तो कृष्ण के व्याज अपने समय के वणिक् वर्ग को नैतिकता का पाठ पढ़ाना चाहते हैं।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में व्यापार व्यवसाय न केवल समृद्ध था बल्कि बाजार भी आवश्यक नैतिकता का पालन करते थे। नीति केवल राज्य का दायित्व नहीं थी, वह नागरिकजनों की स्वतःस्फूर्त जागरूकता का हिस्सा भी थी। प्राचीन भारत में व्यापार के लिए जो बाजार थे, वह दस प्रकार के मार्गों पर विकसित थे। वासुदेवशरण अग्रवाल ने ‘पाणिनी कालीन भारतवर्ष’ में इनके नाम उल्लेख करते हुए, वारि पथ (जलमार्ग), स्थल पथ, करि पथ (जहाँ हाथियों के द्वारा माल का परिवहन होता था) अज पथ (घोड़ों द्वारा जहाँ वस्तु परिवहन होता था) शंकुपथ

(गाड़ियों द्वारा परिवहन) राजपथ (जहाँ कीमती वस्तुओं के बाजार थे), सिंह पथ (यहाँ की विशिष्ट वस्तुओं के बाजार थे), हंस पथ (वायु मार्ग) एवं दैव पथ (वायु मार्ग) का उल्लेख किया है। आशय यह है कि जलमार्ग, स्थलमार्ग एवं वायुमार्ग के माध्यम से प्राचीन भारत में बाजार विकसित हो चुके थे।

अष्टछाप के कवियों ने बाजार पर शासन द्वारा लगाए जाने वाले कर का भी उल्लेख किया है, किन्तु वहाँ कर के लिए दान शब्द का प्रयोग सूरदास आदि कवियों ने किया है। उन्होंने यह भी संकेत दिया है कि खान पान की वस्तुएँ कर मुक्त हुआ करती थीं। कंस द्वारा दूध दही माखन घी आदि के विक्रय पर कर लगाने का विरोध ग्वालिन करती हैं। कृष्ण राजा द्वारा नियुक्त कर वसूल अधिकारी बनकर दूध दही गोरस पर कर (दान) माँगते हैं और गोविन्द स्वामी की ग्वालिन कहती है

*“कहो जू दान लेहौ कैसो।*

*दूध दही गोरस कौ दान कबहू न सुन्यौ कान।*

सूरदास के कृष्ण कहते हैं कि दान (कर) नहीं लेने पर राजा की गाली खानी पड़ती है। गोपियों कर (दान) देने से मना करती हैं ‘तुम घर जाहु दान को दैहै।’

इस पर कृष्ण कहते हैं कि तुम तो अपने घर सूखपूर्वक चली जाओगी, पर जिन भाईयों (कर्मचारियों) के साथ राजा ने मुझे कर (दान) लेने पठाया है, वह दान (कर) नहीं वसूलने पर गाली देगा

*“जिमि वीरा है मोहि पठायों, सो मौसों कह लैहे।*

*तुम घर जाइ बैठि सुख करि हों, नृप गारी को खैहे।*

कृष्ण और गोपियों के बीच इन सम्वादों में रसिक ढंग से खान-पान की वस्तुओं पर राजा द्वारा कर वसूलने की नीति का विरोध करते हुए इस नीति का प्रतिपादन किया गया है कि तत्कालीन समाज में बाजार और शासन के बीच नैतिक नियम था, जो पुरातन समय से चला आ रहा था, कि खानपान की वस्तुएँ कर मुक्त हों, सस्ती हों। तुलसी के राम गरीब निवाज के राज में “मणिमाणक मँहगे किए, सहजे तृण जल नाज” की प्रशंसा की गई है। यहाँ पर सस्ते के लिए ‘सँहजे’ जैसे सुन्दर शब्द का प्रयोग भी अवलोकनीय है जो ‘मँहगे’ का विलोम है। अब यह शब्द चलन से बाहर हो चला है। समय के साथ कितने सुन्दर शब्द भी विलुप्त हो चले हैं, यह ध्यातव्य है?

इन दिनों बाजार की भाषा में ‘मुफ्त’ शब्द एक लुभावना जाल रचता है। एक वस्तु पर दूसरी वस्तु मुफ्त का नारा देकर लालच के जाल में ग्राहक को फँसाया जाता है, किन्तु मध्यकालीन कवियों ने बाजार की इस प्रवृत्ति का भी विरोध किया है। संसार का यह अटल नियम है कि कोई वस्तु सेंटमेंत (मुफ्त) नहीं मिलती।

चतुर्भुजदास की गोपी स्पष्ट शब्दों में कहती है कि “सेंत मेंत क्यों पाइए, यह गौरस निरमोल”। इस पंक्ति के पीछे कवि चतुर्भुजदास का इशारा साफ है कि कोई

अनमोल वस्तु मुफ्त नहीं मिलती। ‘निरमोल’ शब्द का सौन्दर्य देखते हुए यह भी विचार आता है कि हमारी भाषा में इतने सुंदर शब्दों के रहते हुए कब और कैसे मुफ्त जैसा शुष्क शब्द प्रचलन में आ गया और निरमोल और सेंटमेंत जैसे सुंदर शब्द प्रचलन से बाहर हो गए। हमारी भाषा के पास सुन्दर, सहज और सरल शब्दों का भण्डार है। हमारे प्राचीन और मध्यकालीन काव्य का अनुशीलन करने पर जब ऐसे सुन्दर शब्द सामने आते हैं तो हमारी दशा ऐसी हो जाती है जैसे हमने चाँदी का पात्र टाट की बोरी में बाँधकर रख दिया हो और एल्युमिनियम के गिलास से पानी पीये जा रहे हैं। इसी प्रकार सेंटमेंत जैसे काव्यात्मक ललित शब्द से ही हमने पीछा छुड़ा लिया है। मेरे देखते आधुनिक काव्य में सेंटमेंत शब्द का प्रयोग मैथिलीशरण गुप्त के बाद किसी कवि ने नहीं किया है। पंचटवी में गुप्तजी ने इसका सुन्दर प्रयोग किया था “सेंत मेंत की तापस पदवी, मैंने तुमसे पायी है।”

मध्यकालीन काव्य में बाजार लीला के इन सम्मोहक पदों में कवियों ने अपने समय के बाजार का जैसा आदर्श स्वरूप बखाना है, वह हमें प्रेरित करता है कि बाजार की अनियंत्रित शक्तियों को हम अपने ऊपर हावी नहीं होने दें। हमारा बाजार हमारी जरूरतों को पूर्ति करने वाला एक आदर्श माध्यम हो। वह समाज को निगल जाने वाली कोई शक्ति बनकर सामने आए तो उसे रोकने के लिए “कोई कबीर हाथ में लुकाठी लिए खड़ा भी हो”, अन्यथा हम यही गाते हुए घर लौटेंगे कि “प्यारे तेरे प्यार में लुट गए हम बाजार में।”

## पाठकीय प्रतिक्रिया

श्री शंकर शरण का लेख 'उत्तरपाड़ा भाषण शिकवा और हिन्द स्वराज' पढ़ा। बहुत पंसद आया। लेख तीन ऐतिहासिक विचारों के सौ वर्ष पूरे होने पर एक विचारशील लेख है। मुझे इकबाल पर एक संगोष्ठीमें भाग लेने का अवसर मिला था। बार-बार इस बात का जिक्र हो रहा था कि अल्लामा इकबाल ने भारत को ऐसी नज्म दी जो हमारा कौमी तराना बन गईसारे जहां से अच्छा हिन्दुस्ताँ हमारा। मैंने कह दिया कि इकबाल दो कौमों के सिद्धांत के प्रवर्तक भी थे। मेरे बाद बोलने वालों को यह बात अच्छी नहीं लगी और उन्होंने कहा कि क्या आप इस बात से इन्कार करते हैं कि इकबाल एक बड़ा शायर था। मैंने इस बात से इन्कार नहीं किया। लेकिन शिकवा वाली बात मेरे भीतर रह गई थी। क्योंकि इकबाल पर वैचारिक बहस हो रही थी। अतः मैं भी उसके स्तर को कायम रखना चाहता था। मैंने याद दिलाया एक साहब को जो माहिरे इकबालयात होने का दावा करते हैं और बाद में वे अंजुमुले तरक्की-ए-उर्दू के चेयरमैन भी बन गए कि यह उर्दू का दुर्भाग्य ही है कि गालिव जैसे शायर की दो सौवीं बरसी पाकिस्तान में कुछ लोगों ने उस कारण नहीं मनाई कि गालिव भारतीय शायर हैं। यही सूरत गांधी जी की हो गई है। प्रत्येक व्यक्ति उनके विचारों का समर्थन करता है (अमल नहीं करता)। जब कोई व्यक्ति आईकान का रुतबा पा लेता है तो वह ठमलवदक बतपजपबप्रउ हो जाता है। कुछ अरसा पूर्व मुझे एक पुस्तक पढ़ने का अवसर मिला। पुस्तक की 'पहला पत्थर' जिसमें मुगल बादशाहों की शराबजोशी का जिक्र किया गया था और उनकी गलतकारियों की आलोचना की गई थी। यहां तक कि सर सैयद अहमद खां को भी नहीं बखूशा गया। बहरहाल इस पत्र के साथ एक लेख मीडिया पर भिजवा रहा हूँ। अगर आप मुनासिब समझें तो चिन्तन-सृजन के किसी अंक में शामिल कर लें। अन्यथा जाया कर दें। 'डायलाग' का नया अंक स्त्री केन्द्रित है। मैंने भी इस सम्बंध में कुछ काम किया है। पुस्तक भेज रहा हूँ। मैं बहुत ही बदखत हूँ। लेकिन सुधार नहीं हो रहा। क्षमा याचना के साथ।

- देवेन्द्र इस्सर, नई दिल्ली।

'चिन्तन-सृजन' का जनवरी-मार्च अंक अभी मिला। आप इतनी अच्छी पत्रिका नियमित रूप से प्रकाशित कर रहे हैं, इसके लिए बहुत बहुत साधुवाद। पत्रिका

भिजवाने के लिए धन्यवाद। किन्तु यह कार्ड एक दूसरे प्रयोजन से लिख रहा हूँ। इस अंक के तीसरे लेख के लेखक का नाम

'भाष्कर राय' छपा है। यह अशुद्ध है। ठीक 'भास्कर' है, जिसका अर्थ सूर्य है।

- यशदेव शल्य, दर्शन

प्रतिष्ठान, पी-51, मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर।

'चिन्तन-सृजन' वर्ष 7 अंक-3 मिला। गत दिनों 'भारत चिन्ता' का स्वर सभी विचारधाराओं से जुड़े मनीषियों की चिंतनधारा का अंग बना है। यह ठीक है कि पूर्वाग्रहों का सीमाएँ अभी भी बनी हुई हैं और वस्तुस्थिति पर यथार्थ-विचार करने में बाधा दे रही हैं; फिर भी देशहित में यह एक शुभ संकेत है। चिन्तन-सृजन में विजय बहादुर सिंह की उपस्थिति सुखद लगी। अन्य लेखों में शंकर शरण, शीतांशु जी और सदानंदगुप्त जी के लेखों ने विशेषतः आकर्षित किया। चिन्तन-सृजन में वर्तनी संबंधी चिन्ता की जानी अपेक्षित लगी। विश्वास है; इस ओर विचार करेंगे।

- डॉ. कृष्ण चन्द्र गोस्वामी, "श्री निकुंज" बी-90, जवाहर नगर, भरतपुर।

'चिन्तन सृजन' के जनवरी-मार्च, 10 के लेख इतने महत्वपूर्ण और विचारोत्तेजक हैं कि वे पाठकों को देशद्रोही प्रवृत्तियों तथा विदेशी विचारधारा से पनपे पागलपन से भरे उन्माद से परिचित कराते हुए उससे आमना-सामना करने का आह्वान करते हैं। आपका सम्पादकीय सबसे पहले पाठक का ध्यान आकर्षित करता है। यह सच है कि स्वतन्त्र भारत में अधिकार और कर्तव्य का सन्तुलन खत्म हो गया, क्योंकि भारतीय जीवन में धर्म के योगदान को अस्वीकृत कर दिया गया। पराधीनता-काल में अंग्रेजों ने भारतीय चेतना के दमन के लिए अनेक मिथक बनाये और स्वतन्त्र भारत में भी विदेशी बौद्धिकता का वर्चस्व बना रहा। अब विदेशी और देशी बौद्धिक वर्ग संयुक्त हो गया और इससे, जैसा अपने लिखा है, राष्ट्र-विरोधी तथासमाज-विरोधी तत्त्वों का बल बढ़ता गया और इससे देशीय संस्कृति, परम्परा, ज्ञान-विज्ञान आदि से दुराव होता गया। निश्चय ही, आज एक देशीय 'सशक्त बौद्धिक आन्दोलन' की आवश्यकता है, जो भारत को भारत की दृष्टि से देखे, भारत की दृष्टि से भारत का विकास करें, और 'भारत' पर 'इंडिया' को हावी न होने दे। डॉ. विजय बहादुर सिंह का लेख 'शिक्षा और समाज' आपके इस देशी मन्तव्य का ही विस्तार करता है और आज के अंग्रेजी शिक्षित भारतीय समाज के समाज-द्रोही चरित्र को निरावृत्त करता है। डॉ. सिंह का यह विवेचन सही है कि भारतीयों के अवचेतन में पश्चिम का सांस्कृतिक उन्माद बैठ चुका है जो शिक्षितों में अपने समाज से अलगाव पैदा करता है और सत्ता के प्रति अंधी लायल्टी। महात्मा गाँधी ने 'हिन्द स्वराज' में डॉक्टर, वकील, न्यायाधीश आदि की वास्तविकता को उद्घाटित किया था और डॉ. विजय बहादुर सिंह ने भी इस



स्वार्थी-समूह की सम्बेदनशून्यता और स्वार्थपरता की चर्चा की है। आज देश दुर्गति की ओर तीव्रता से बढ़ रहा है। नैतिकता खत्म हो गयी है, जाति-धर्म की संकीर्णता बढ़ रही है, शिक्षित-धनी समाज ने अपना एक अलग दिव्य-लोक बना लिया है और निधन, अशिक्षित और देहातियों के सपनों का निर्मम अपहरण हो रहा है। ऐसी स्थिति में डॉ. विजयबहादुर सिंह जातीय काव्यों के अनीति के प्रतिरोध में उठ खड़े होने को आवश्यक मानते हैं। 'यदा यदा हि धर्मस्य ...' में दुष्टों के दलन का भारतीय संकल्प विद्यमान है। धर्मपाल का लेख 'अंग्रेजी बर्बरता हमारे लिए विदेशी थी' तो दबे-ढके इतिहास का जीवान्त दस्तावेज है। अनुपम मिश्रका लेख हमारे अज्ञान और हीनता ग्रिथ पर चोट करता है। भारत में जल संरक्षण का विज्ञान सैकड़ों-हजारों वर्षों से था। तालाब ग्रामीण जीवन के प्राणधार थे और उसका पूरा ज्ञान-विज्ञान भारतीयों को था। इस अंक में तीन अन्य महत्त्वपूर्ण लेख हैं शंकर शरण ने उत्तरपाड़ा भाषण, शिकवा और हिंद स्वराज की तुलना करके इकबाल की साम्प्रदायिक मनोभूमि का उद्घाटन कर दिया है और स्पष्ट किया है कि हिन्दू चिन्तक भारत के उत्थान की सोचते थे और इकबाल जैसे मुस्लिम विश्व को मुस्लिम बनाने के सम्बन्ध में। इकबाल ने 'शिकवा' में अल्लाह से एक ही प्रार्थना की है कि 'हिन्दू के दैरनशीनों को मुसलमानों कर दे।' भारत की धर्म निरपेक्ष सरकारें ऐसे इकबाल पर दो-दो संस्थाएँ चलाती हैं और उसे राष्ट्र कवि जैसा सम्मान देती हैं। ऐसा सम्मान तो राष्ट्रकवि मैथिली शरण गुप्त तथा रामधारी सिंह 'दिनकर' को भी नहीं मिला। हमारी धर्मनिरपेक्षता ऐसी ही है कि हम अपने राष्ट्र-नायकों, स्वतन्त्रता सेनानियों और संस्कृति पुरुषों की अवमानना करते हैं और पाकिस्तान के मुख्य शिल्पी को गले लगाते हैं। पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु' ने अपने लेख में हिन्दी के मार्क्सवादी आलोचकों तथा बुद्धिजीवियों की वास्तविकता का उद्घाटन किया है। 'शीतांशु' ने सिद्ध किया है कि मार्क्सवादी रूसी क्रांति प्रतिगामी क्रांति थी। ये लोग देश की बहुसंख्यक जनता हिन्दू समाज के विरोधी हैं तथा साहित्य इनके लिए खाने-पीने की चीज है। सदानन्द प्रसाद गुप्त का लेख भी रामचन्द्र शुक्ल के माध्यम से साम्यवादी सिद्धान्तों की ही परीक्षा करता है। आचार्य शुक्ल साम्यवाद के एकरूपता के सिद्धान्त का खंडन करते हैं, क्योंकि प्रकृति अनेकरूपा है और मनुष्य समाज भी ऐसा ही है। सामी मजहबी व्यवस्था तथा साम्यवादी विश्वास विश्व में एकरूपता चाहते हैं जो न तो प्राकृतिक है और न सम्भव। वे कहते हैं कि लेनिन का महात्मा बनना घोर अमंगल का सूचक है। वे अन्त तक तुलसी के लोकवाद के साथ रहे और रूसी क्रांति के सम्मोहन की आलोचना करते रहे। इस प्रकार यह अंक अपनी बौद्धिक सामग्री की विशिष्टता के कारण महत्त्वपूर्ण बन जाता है। पत्रिका पठनीय हो और विचारोत्तेजक के साथ ज्ञानवर्द्धक भी हो तो वह अर्थवान बन जाती है।

- डॉ. कमल किशोर गोयनका, ए-98,  
अशोक विहार, फेज-प्रथम, दिल्ली-110 052.

... इस बीच सारगर्भित विचारों से सिञ्चित आप की पत्रिका चिन्तन-सृजन मुझे निरन्तर मिलती रही; आप के इस उद्यम के लिए आप को साधुवाद। जनवरी-मार्च 2010 का अंक मुझे सचमुच बहुत अच्छा लगा, विशेषकर दिवंगत धर्मपाल जी तथा शंकर शरण जी के आलेख। इन दोनों ने अपने अध्यवसाय तथा अपनी मनीषा से जो निष्कर्ष निकाले हैं वे भारत की गर्हित स्थिति की गहरे में मीमांसा करते हैं तथा हमारी आँखें खोल देनेवाले हैं। लेकिन हमारा दुर्भाग्य कि इन जैसे मनीषियों का भी वही हाल होता है जो यशदेव शल्य जी अपनी पीड़ा व्यक्त करते हुए कहते हैं - "हम बस चिल्ला भर सकते हैं"। धर्मपाल जी ने कितना कुछ शोध किया है भारत के इतिहास पर, अँगरेजों की आँख पाये भारत के तथाकथित इतिहासवेत्ता उस की ओरदेखना भी पसन्द नहीं करते। बौद्धिक दासता का ऐसा उदाहरण विश्व में कहीं दृष्टिगोचर नहीं होगा। आप की पत्रिका के लिए एक आलेख भेज रहा हूँ। मूल आलेख अँगरेजी में है, जिसे प्रो. एस एन बालगङ्गाधर राव ने लिखा है। मुझे यह बहुत विचारोत्तेजक लगा, अतः अनुवाद कर आप को भेज रहा हूँ। इस समय आप की पत्रिका के अतिरिक्त अन्य किसी पत्रिका में मुझे इतना साहस नहीं दीखता जो इसे प्रकाशित कर सके। अनुवाद के तौर पर 'तितीर्षु' ही नाम दें, कुमार सौरभ नहीं। 'तितीर्षु' नाम ही मैं अपने लेखन में सर्वत्र प्रयोग करना चाहता हूँ।

- कुमार सौरभ, 'तितीर्षु' डी-26/3, डी.आर.डी.ओ. टाउनशिप,  
कंचनबाग, हैदराबाद-500058।

चिन्तन-सृजन, अक्टूबर-दिसम्बर, 2009 संपादकीय में छोटे राज्यों के निर्माण से जुड़ी समस्याओं को रेखांकित करते हुए कहा गया है कि नए राज्यों की आत्मनिर्भरता पर विचार किया जाए। साथ ही यह सलाह भी दी है कि जो नए राज्य बने हैं उनके काम पर श्वेतपत्र जारी किया जाए। रामेश्वर मिश्र 'पंकज' ने 'डा. लोहिया की पावक और प्रेरणाप्रद स्मृति में' आलेख में डा. लोहिया के बहुआयामी व्यक्तित्व को उभारा है। रामेशचंद्र शाह का 'स्वाध्याय' आंदोलन: डायरी के पृष्ठों से' कई यादें समेटे हुए हैं जो दुर्लभ हैं। श्रीराम परिहार ने प्रख्यात कवि रामधारी सिंह 'दिनकर' के काव्य में राष्ट्र चेतना को प्रतिबिंबित करते हुए कहा है कि 'दिनकर' राष्ट्र की सांस्कृतिकता के उद्गाता है। सुरेश शर्मा का आलेख 'वीर सावरकर और हिंदुत्व', ए.सी. सिन्हा का 'हिमालयी रजवाड़ों में प्रजातंत्रीय आंदोलन की परंपरा', शत्रुघ्न प्रसाद का 'कश्मीर की त्रासदी और हिंदी साहित्य', लोकेशचंद्र का 'भारत के तैतीस कोटि देवता' राजीव रंजन उपाध्याय का 'प्राचीन भारतीय विज्ञान के कुछ बिंब एवं विज्ञान कथा' तथा कामेश्वर 'पंकज' का आलेख 'प्रेमचंद की प्रासंगिकता का मतलब' भी महत्त्वपूर्ण हैं। उत्कृष्ट आलेखों से अंक पठनीय है।

- सामान्यजन संदेश वर्ष 21,  
अंक 88 जनवरी-फरवरी-मार्च 2010 अंक से



## प्राप्ति-स्वीकार

पिछले अंकों में सूचीबद्ध पुस्तकों/पत्रिकाओं के अतिरिक्त प्राप्त नई पुस्तकें/पत्रिकाएँ:

### पुस्तकें

**M.K. Gandhi's HIND SWARAJ A Critical Edition**, annotated, translated & edited by Suresh Sharma and Tridip Suhrud; published by Orient Blackswan Private Limited, 1/24 Asaf Ali Road, New Delhi-110 002; First Published 2010; Pages : 84.

**हिन्द स्वराज पश्चिमी दृष्टि में**, हिन्दी रूपान्तर: नन्दकिशोर आचार्य; प्रकाशक: देवेन्द्रराज मेहता, संस्थापक एवं मुख्य संरक्षक, प्राकृत भारती अकादमी, 13-ए, गुरुनानक पथ, मेन मालवीय नगर, जयपुर-302017; प्रथम संस्करण: 2009; पृष्ठ: 80; मूल्य: 50 रुपये।

**आधुनिक कवि 24**, संपादक: रमेशचन्द्र शाह; प्रकाशक: श्री विभूति मिश्र, प्रधानमंत्री, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 12, सम्मेलन मार्ग, इलाहाबाद-3; प्रथम संस्करण: 2010; पृष्ठ: 212; मूल्य: 200 रुपये।

**स्त्री मुक्ति के प्रश्न**, संपादक: देवेन्द्र इस्सर; प्रकाशक: संवाद प्रकाशन, आई-499, शास्त्रीनगर, मेरठ-250004(उ.प्र.); प्रथम संस्करण: अक्टूबर 2009; पृष्ठ: 136; मूल्य: 100 रुपये।

**इस्लाम की हकीकत**, संपादक: अनजाना चिश्ती; प्रकाशक: खानकाह सूफी दीदार शाह चिश्ती, हाजी मलंग वाडी, बी.ओ. वाडी., पो. कल्याण जिला-ठाणे-421301 (महाराष्ट्र); द्वितीय संस्करण; पृष्ठ: 304.

**कालजयी सनातन धर्म**, संपादक: स्वामी संवित् सोमगिरि; प्रकाशक: मानव प्रबोधन प्रन्यास, श्रीलालेश्वर महादेव मन्दिर, शिवमठ, शिवबाड़ी, बीकानेर-334003; प्रथम संस्करण: श्रीगुरुपूर्णिमा, विक्रम सम्वत् 2061; पृष्ठ: 296; मूल्य: 150 रुपये।

**श्रीदुर्गासप्तशती** सरलीकृत पाठ विधि, संपादक: स्वामी संवित् सोमगिरि; प्रकाशक: मानव प्रबोधन प्रन्यास, श्रीलालेश्वर महादेव मन्दिर, शिवमठ, शिवबाड़ी, बीकानेर-334003; संस्करण: अप्रैल 2009; पृष्ठ: 112; मूल्य: 25 रुपये।

**जप साधना** (संक्षिप्त निर्देशिका), संपादक: स्वामी संवित् सोमगिरि; प्रकाशक: शिवार्चन प्रकाशन, मानव प्रबोधन प्रन्यास, श्रीलालेश्वर महादेव मन्दिर, शिवमठ, शिवबाड़ी, बीकानेर-334003; प्रथम संस्करण: 1996; पृष्ठ: 56; मूल्य: 25 रुपये।

**दूर कहीं से पास** कविता-संग्रह, संपादक: स्वामी संवित् सोमगिरि; प्रकाशक: मानव प्रबोधन प्रन्यास, श्रीलालेश्वर महादेव मन्दिर, शिवमठ, शिवबाड़ी, बीकानेर-334003; प्रथम संस्करण: अक्टूबर 2006; पृष्ठ: 104; मूल्य: 125 रुपये।

**श्रीमद्-भगवद्-गीता** मूल पाठ-सरल रूप में, संपादक: स्वामी संवित् सोमगिरि; प्रकाशक: मानव प्रबोधन प्रन्यास, श्रीलालेश्वर महादेव मन्दिर, शिवमठ, शिवबाड़ी, बीकानेर-334003; प्रथम संस्करण: जुलाई 2009; पृष्ठ: 100; मूल्य: 30 रुपये।

**वाक्यसुधा** (मूल-श्लोक एवं हिन्दी व्याख्या), संपादक: स्वामी संवित् सोमगिरि; प्रकाशक: "शिवार्चन प्रकाशन, मानव प्रबोधन प्रन्यास, श्रीलालेश्वर महादेव मन्दिर, शिवमठ, शिवबाड़ी, बीकानेर-334003; द्वितीय संस्करण: अक्टूबर विक्रम सम्वत् 20065; पृष्ठ : 32; मूल्य: 15 रुपये।

**जीवन-रहस्य**, संपादक: स्वामी संवित् सोमगिरि; प्रकाशक: शिवार्चन प्रकाशक, मानव प्रबोधन प्रन्यास, श्रीलालेश्वर महादेव मन्दिर, शिवमठ, शिवबाड़ी, बीकानेर-3340039; प्रथम संस्करण: अप्रैल, 2007; पृष्ठ: 112; मूल्य: 75 रुपये।

**सनातन संस्कृति का विज्ञान**, संपादक: स्वामी संवित् सोमगिरि; प्रकाशक: शिवार्चन प्रकाशन, मानव प्रबोधन प्रन्यास, श्रीलालेश्वर महादेव मन्दिर, शिवमठ, शिवबाड़ी, बीकानेर-334003; प्रथम संस्करण: 2008; पृष्ठ: 256; मूल्य: 150 रुपये।

भारतीय संस्कृति के उन्नायक **जगद्गुरु श्री आद्य शंकराचार्य**, संपादक: स्वामी संवित् सोमगिरि; प्रकाशक: "शिवार्चन" प्रकाशन, मानव प्रबोधन प्रन्यास, श्रीलालेश्वर महादेव मन्दिर, शिवमठ, शिवबाड़ी, बीकानेर-334003; तृतीय संस्करण: श्रीशंकर जयन्ती विक्रम सम्वत् 2065; पृष्ठ: 104; मूल्य: 20 रुपये।

**गीता प्रतियोगिता विवरणिका 2009**, आयोजक: गीता प्रतियोगिता आयोजन समिति, मानव प्रबोधन प्रन्यास, श्रीलालेश्वर महादेव मन्दिर, शिवमठ, शिवबाड़ी, बीकानेर-334003। **कनक-धारा स्तोत्र** (मूल-श्लोक, अन्वय एवं भावार्थ), संपादक: स्वामी संवित् सोमगिरि; प्रकाशक: शिवार्चन प्रकाशन, मानव प्रबोधन प्रन्यास, श्रीलालेश्वर महादेव मन्दिर, शिवमठ, शिवबाड़ी, बीकानेर-334003; प्रथम संस्करण: विक्रम सम्वत् 2064; पृष्ठ: 32; मूल्य: 20 रुपये।

**महाभारत कथा सार**, संपादक: स्वामी संवित् सोमगिरि; प्रकाशक: मानव प्रबोधन प्रन्यास, श्रीलालेश्वर महादेव मन्दिर, शिवमठ, शिवबाड़ी, बीकानेर-334003; प्रथम संस्करण: 2006; पृष्ठ: 104; मूल्य: 15 रुपये।

**Conflicts in Manipur**, Editor: M. Amarjeet Singh; Published by National Institute of Advanced Studies, Indian Institute of Science Campus, Bangalore-560 012; Pages: 46; Price Rs. 75/-

## आस्था भारती, दिल्ली

अध्यक्ष : डॉ. जयन्त माधव

अर्थशास्त्री, पूर्व निदेशक, एशियन विकास बैंक, पूर्व अध्यक्ष,  
पूर्वोत्तर विकास वित्त निगमद

सचिव : डॉ. ब्रज बिहारी कुमार

कोषाध्यक्ष : श्री जे.एन. राय

भारतीय आरक्षी सेवा (सेवा निवृत्त) पूर्व आयुक्त, नागरिक  
उड्डयन सुरक्षा, नयी दिल्ली!

- सदस्य, शासी परिषद :
1. **प्रोफेसर मृणाल मिरी**  
पूर्व कुलपति, पूर्वोत्तर पार्वत्य विश्वविद्यालय, शिलौंग
  2. **प्रोफेसर के. के. नारायण कुरुप**  
पूर्व कुलपति, कालिकट विश्वविद्यालय
  3. **प्रोफेसर कमलेश्वर बोरा**  
पूर्व कुलपति, डिब्रूगढ़ विश्वविद्यालय
  4. **प्रोफेसर अरविन्द कुमार शर्मा**  
पूर्व कुलपति, मिजोरम विश्वविद्यालय
  5. **प्रोफेसर व्ही. सूर्यनारायण**  
पूर्व प्रोफेसर एवं निदेशक, दक्षिण एवं दक्षिण पूर्व  
एशिया अध्ययन केन्द्र, मद्रास विश्वविद्यालय
  6. **श्री प्रकाश सिंह**  
भारतीय आरक्षी सेवा (सेवा निवृत्त) पूर्व महानिदेशक,  
सीमा सुरक्षा बल, पूर्व आरक्षी महा निदेशक, उत्तर-प्रदेश,  
असम
  7. **श्री राजेश भार्गव**  
इंजीनियर, व्यवसाय
  8. **प्रो. सुरेश शर्मा**
  9. **डॉ. शंकर शरण**

## Dialogue Quarterly English Journal of Astha Bharati, Delhi

44 issues published uptil now (Sept – 2009)

### Special Numbers:

- Illegal Migration from Bangladesh - Vol. 3:3  
Central Asia - Vol. 3:4  
Fiscal Mis-management in North East India - Vol. 4:1  
Maoist Insurgency in Nepal and India - Vol. 4:2  
India: Security Dimensions - Vol. 4:3  
Indian Islands: Andaman & Nicobar Islands and Lakshadwip - Vol. 4:4  
South-East Asia - Vol. 5:1  
Secularism: India in Labyrinth - Vol. 5:2  
India's Neighbourhood - Vol. 5:3  
Governance in the North-East - Vol. 5:4  
Policing in India - Vol. 6:1  
India and Central Asia - Vol. 6:2  
Population Issues - Vol. 6:3  
Naxalism - Vol. 6:4  
Indo-Pakistan Relations & Kashmir - Vol. 7:1  
Media in India - Vol. 7:2  
India's North East - Vol. 7:1  
India: Political Culture, Governance & Growth - Vol. 7:4  
Understanding India - Vol. 8:1  
India's Internal Security - Vol. 8:2  
India's Interface with East Asia - Vol. 8:3  
Education in India - Vol. 8:4  
India's eastern Neighbourhood & 'Look East' Policy - Vol. 9:1  
Caste, Community and Social Justice - Vol. 9:2  
India's Encounter with the West - Vol. 9:3  
India: Security Scene - Vol. 9:4  
Kashmir - Vol. 10:1  
Bangladesh - Vol. 10:2  
India's North-East - Vol. 10:3  
Himalayan Region - Vol. 10:4  
India's Neighbourhood - Vol. 11:1  
Terrorism/Insurgencies in India: Perception & Reality – Vol. 11:2  
India: Women Related Issues – Vol. 11:3  
China – Vol. 11:4  
Forthcoming issue of Dialogue  
1. Media in India  
2. Indian's Understanding of the Religion  
3. India: Caste Related issues

*We Strive  
to Satisfy  
Our Customers*

**VASUNDHARA MARKETING CO.**

Sales Tax No. LC/13/017261/1080

☎ 3277883 (Off.)

*Regd. Office*  
**1/ 3575, Netaji Subhash Marg  
Darya Ganj, New Delhi- 110002**

*With Best Compliments  
from*

**VASUNDHARA IMPEX (P) LTD.**

*Administrative Office*  
LG-69, World Trade Centre,  
Babar Lane, New Delhi-110001

*Regd. Office*  
**1/ 3575, Netaji Subhash Marg, Darya Ganj,  
New Delhi-110002 Phone Off. 3277883, 3711848**